श्री कात्रज (पूना) तीर्थ मंडन श्री महावीरस्वामिने नमः
आगमोद्धारकाचार्य श्री आनंद-चन्द्र-देवेन्द्र-दोलतसागर सूरिभ्यो नमः

सुविहितशिरोमणिसुरि पुरंदर-श्री-शीलाङ्काचार्यविरचित-वृत्तिसमेतं
पञ्चमगणभृत्सुधर्मास्वामि-प्रणीतं

श्री आचारांग सूत्रम्

संपादक-संशोधकश्च

व्याख्यान वाचस्पति, निडर वक्ता गच्छाधिपति

पू. आचार्यदेवश्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराजा

मत्पट्टधर वर्तमान गच्छाधिपति कात्रज तीर्थ मार्गदर्शक

पू. आचार्यदेवश्री दोलतसागरसूरीश्वरजी महाराजा

तत्लघुगुरुबंधु शासन प्रभावक

पू. आचार्यदेवश्री देवचन्द्रसागरसूरीश्वरजी म. सा.

प्रकाशक
श्री वर्धमान जैन आगम तीर्थ
जैन आगम हील, पुणे-सातारा रोड, पुना-४११ ०४६.

श्री कात्रज (पूना) तीर्थ मंडन श्री महावीरस्वामिन नम:

आगमोद्धारकाचार्य श्री आनंद-चन्द्र-देवेन्द्र-

दोलत-नंदिवर्धनसागर सूरिभ्यो नम:

सुविहितशिरोमणिसुरि पुरंदर-श्री-शीलाङ्काचार्यविरचित-वृत्तिसमेतं

पञ्चमगणभृत्सुधर्मास्वामि-प्रणीतं

श्री आचारांग सूत्रम्

[प्रथमाध्ययनात्मक: प्रथमो विभाग:]

संपादक-संशोधकश्च

व्याख्यान वाचस्पति, निडर वक्ता गच्छाधिपति पू. आचार्यदेवश्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराजा

तत्पट्टधर वर्तमान गच्छाधिपति कात्रज तीर्थ मार्गदर्शक पू. आचार्यदेवश्री दोलतसागरसूरीश्वरजी महाराजा

तत्लघुगुरुबंधु शासन प्रभावक पू. आचार्यदेवश्री देवचन्द्रसागरसूरीश्वरजी म.सा.

आ आगमना अधिकारी योगवाही गुरुकुलवासी
सुविहित मुनिराजो अने साध्वीजी महाराजो छे.

प्रकाशक

श्री वर्धमान जैन आगम तीर्थ

कात्रज जकात नाका के पास,

पूना-सातारा रोड पूना- ४११ ०४६

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्यदेवश्री **देवेन्द्रसाग**[redacted] केशिष्य प्रशिष्य वर्तमान गच्छाधिपति पू. आचार्यदेवश्री **दोलतसागरसूरीश्वरजी** म.सा , पू.आचार्यदेवश्री **नंदिवर्धनसागर सूरीश्वरजी** म.सा. पू. आचार्यदेवश्री **देवचन्द्रसागर सूरीश्वरजी** म.सा. आदि ठाणा १० का श्री वर्धमान जैन आगम तीर्थ में चातुमास की यादगिरि के रूप ये आगम छपवाया है ।

पू. गच्छाधिपतिश्री की भावना थी की ये चातुर्मास की यादगिरि निमित्त आचारांग सूत्र का एक अध्ययन तो पुस्तकाकारे छपवाना है इसकी फलश्रुति रूप ये आगम छपवाया है।

वीर संवत २५३९, वि.सं.२०६९, सन.२०१२, का. सु. ५ रविवार

किंमत: पठन पाठन

सम्पादकीय निवेदन

निष्कारणबंधु विश्ववत्सल चरमशासनपति श्रमणभगवान महावीरदेवे भव्यजीवोना हितने माटे स्थापेल शासन आजे विद्यमान छे अने विषमकालमां पण भव्य जीवोने माटे सर्वज्ञ परमात्मानुं ए शासन परम आलंबन रूप छे. तीर्थंकरदेवोनी अविद्यमानतामां तेओश्रीनी वाणी शासनना प्राण स्वरुप होय छे. श्री तीर्थंकरदेवोओ अर्थथी प्ररूपेल अने गणधरदेवोए सूत्रथी गूंथेल ए जिनवाणी हितकांक्षी पुन्यात्माओ माटे अमृत तुल्य छे.

विद्यमान आगम श्रुतज्ञानमां मुख्यतया ४५ आगम गणाय छे. ते उपरांत पण ८४ आगमनी गणतरीने हिसाबे बीजुं पण केटलुंक आगम रूपी श्रुतज्ञान विद्यमान छे. आगम सूत्रो उपर निर्युक्तिओ, भाष्यो, चूर्णिओ अने टीकाओ रचाइ छे. अने एथी सूत्र सहित आगमनी ए पंचांगी जैन शासनमां मान्य छे. तेना आधारे वर्त्तमान ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार अने वीर्याचार रूप व्यवहार प्रवर्ते छे. सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान अने सम्यग्चारित्र रूप मुक्ति-मार्ग प्रवर्तमान छे.

पंचांगीनी वाचना, पृच्छना,परावर्तना, अनुप्रेक्षा अने धर्मकथा रूप पांचलक्षण स्वाध्याय जेटलो जोरदार तेटली श्री संघमां सम्यग्ज्ञाननी शुद्धि जोरदार, तेनाथी ज्ञानाचार उज्वल, उज्वल ज्ञानाचारथी दर्शनाचार उज्वल, उज्वल दर्शनाचारथी चारित्राचार उज्वल, उज्वल चारित्राचारथी तपाचार उज्वल, अने ए चारे उज्वल आचारथी वीर्याचार उज्वल. वीर्याचारनी उज्वलताथी जैनशासन उज्वल. ए उज्वल जैन शासन सदा जयवंत वर्ते छे.

आम शासननो आधार कहो के पायो कहो, मूल कहो के प्राण कहो, ए श्री जिनवाणी छे. अने ते जिनवाणी ४५ मूल आगम सहित पंचांगी स्वरुप छे. पंचांगीने अनुसरता प्रकरण ग्रन्थो यावत् स्तवन सज्झाय के नाना निबंध के वाक्य स्वरूप छे. उपशम, विवेक संवर ए त्रिपदी स्वरूप जिनवाणीथी घोर पापी चिलातीपुत्र पतनना मार्गथी निकली प्रगतिमार्गना मुसाफिर बनी गया हता.

४५ मूल आगमना अधिकारी योग वाही गुरुकुलवासी सुविहित मुनिवरो छे. साध्वीजी महाराजो श्रीआवश्यक सूत्र आदि मूल सूत्रोना तेमज श्री उत्तराध्ययन सूत्र तेमज श्री आचारांग सूत्रना योगवहन करवा पूर्वक अधिकारी छे. श्रावक श्राविकाओ उपधान वहन करवा पूर्वक श्री आवश्यक सूत्र उपरांत (चतुर्थ व्रतधारक श्रावक श्राविका) दशवैकालिकसूत्रना षड्जीव-निकाय-नामना चोथा अध्ययन पर्यंतना श्रुतना अधिकारी छे. आम आगमश्रुतना अधिकारी मुनिवरो योगवहन करवा पूर्वक योग्यता मुजब अध्ययन आदि करीने पोताना ज्ञान दर्शन चारित्रने निर्मल बनावे छे. अने योग्यता मुजब धर्मकथा आदि द्वारा जिनवाणीनुं पान करावी साधु साध्वी श्रावक श्राविका रूप चारे प्रकारना संघने तेमज मार्गानुसारी जीवोने मुक्तिमार्ग प्रदान करे छे.

आ सूत्रना संपादनमां पू. आगमोद्धारक आचार्यदेवश्री आनंद-सागर सूरीश्वरजी म. संशोधित श्री आगममंजूषानो उपयोग करेल छे. टीकाओमां रहेला पाठांतरो मेलवीने मूलपाठ जोडे कौंशमां आपेला छे.

'ज्ञानधनाः साधवः' ए विधान मुजब श्रमण संघना प्राण समान आ आगम सूत्रोनुं श्री श्रमण भगवंतो द्वारा विशेष परिशीलन थतां श्रीसंघने माटे श्री शासन ने माटे घणी उज्वळलता फेलाशे अने ए आशयथी स्वपरना श्रेयकारी आगम सूत्रना संशोधन संपादनमां मारो

अविरत उत्साह प्रवर्तमान छे. अने भविष्यमां ४५ आगमो प्रताकारे संपादन करवा माटेनी मारी भावना पण छे.

सौ प्रथम आ चातुर्मास दरम्यान पू. गच्छाधिपति आचार्यदेवश्री दोलतसागरसूरीश्वरजी महाराजानी भावना थई के आ, संवत २०६८ ना श्री वर्धमान जैन आगम तीर्थमां थयेल चातुर्मासनी यादगिरी निमित्त आचाराङ्ग सूत्रना पहेला अध्ययननी टीका सहित पुस्तकाकारे ग्रन्थ छपावीने बहार पाडीए. तेमनी भावना मुजब आचारांग सूत्रनुं पहेलुं अध्ययन छपावी रह्यो छु. आगळ जता जो चतुर्विध संघनी भावना थशे तो आगळ प्रयत्न करवानुं विचारीशुं.

आ पुस्तक छपाववामां आर्थिक सहायक पूना निवासी भाग्यशाळीए लीधेल छे. तथा आ पुस्तकमां प्रुफ शुद्धि करवामां मददगार रह्या छे. वैयावच्च प्रेमी बालमुनिश्री विमलसागरजी म.सा. तेमने पण आ अवसरे अचूक याद करुं छ.

अंतमां चरम तीर्थपति श्रमण भगवान महावीर देवे प्रकाशेल जिनवाणीनो प्रभाव पांचमा आराना छेडा सुधी रहेशे. ए ज्वलंत जिनवाणीनो प्रकाश आपणा आत्माने अजवालनारो बने ते माटे योग्यता अने अधिकार मुजब जिनवाणीनी उपासना-भक्तिमां भावोल्लास पूर्वक रस लइ रह्यो छं. ते टकी रहे अने सौ श्रुत आराधनामां उजमाल बनीए एज मारा अंतरनी शुभ भावना छे

वीर सं० २५३९ वि.सं. २०६८
कार्तिक सुद १ बुधवार
श्री वर्धमान जैन आगम तीर्थ
पूना-सातारा रोड, कात्रज
पूना ४११ ०४६
मो. ०७८७५८३७७९१

पू.स्व.गच्छाधिपति आचार्य-
देवश्री **देवन्द्रसागर सूरीश्वरजी**
महाराजानो चरण सेवक
आ.देवचन्द्रसागर सूरि

-: प्रशस्य प्रशस्ति :-

'नमोऽस्तु तस्मै श्री जिनागमाय'

उपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा

वैशाख सु.१० ना ढळती संध्याए चरम तीर्थपति श्री महावीरस्वामिने केवलज्ञान अने केवलदर्शन नी प्राप्ति थई । तेम छतां, वै.सु.११ ना दिवसे गौतमादि 'अग्यार गणधरोने प्रभुए त्रिपदी अर्पण करी.

उत्पन्न थवुं, विनाश थवो, निश्चल (ध्रुव) रहेवुं ।'

चराचर विश्वना पौद्गलिकभावोने प्रभुए तद्दन खुल्लाकरी दीधां । जेमांथी अग्यार अंग अने दृष्टिवाद रूप द्वादशांगीनी रचना थई, अने कालान्तरे आजे आपनी पासे आवी ।

पू. याकिनी महत्तरा सुनु हरीभद्रसूरिजी म.सा. कहे छे. **हा अणाहा कहं हूंता जइ न हुंति जिनागमो ?** हे परम प्रभु ! आजे मने जो तारा आगम ना मळ्या होत तो म्हारुं शुं थात ? हु आजे क्यां होत ? म्हारां आत्मानु शुं थात ?

ज्ञानभास्कर पूज्यपादश्री ने एवुं ते शुं लाग्युं के तेओ पोताना ग्रन्थ मां आ उद्गार प्रभु समी प्रगट करे ? अथवा तो आवी कृतज्ञता रजु करे ?

हा ! छे कांइक एवुं ज आ आगमो मां जे जिनेन्द्रअे आपणे आप्युं छे ।

<u>प्रथम ज्ञानदृष्टी</u> :- जे वस्तु जेवी छे तेने तेवी रीते समजावी के जेनाथी आत्मानुं केम करीने संरक्षण थाय, वळी आत्मानी स्थितीनी ओळखाण अने जीवादि सृष्टी नी समज तमने एम थतुं हशे आम केम ? परन्तु .. आ ज आचारांग सूत्रना प्रथम अध्ययनमां पृथ्वीकायादि षट्कायनी प्रभुए प्ररूपणा करी छे. जे ज्ञानदृष्टी छे.

<u>बीजुं हस्ताक्षर</u> :- हस्ताक्षर अे मानवनी पहचाननुं स्मृति चिह्न अथवा

तो तेनो प्राण छे. प्रभुए स्वमुखे जे प्रकाश्यु. ते तेमनो प्राण थयो. गणधरोए तेने शब्दस्थ कर्यु, ते तेमनुं स्मृतिचिह्न थयुं अने गणधरोपर वासक्षेप करीने अे द्वादशांगी पर पोताना हस्ताक्षर कर्या ।

जरा विचारीये... प्रभुनी प्रतिमा, प्रभुनुं नाम, अत्यंत पूजनीय, तो पछी आगम ? ते तो सतत वंदनीय अने पूजनीय केम के तेमां प्रभुना प्राण, स्मृति अने हस्ताक्षर नो संगम छे । संगम स्थळ विश्वमां पवित्र छे, अने पवित्रतां नी तमाम हद वटावी ने जिनागम पवित्रतम् छे.

अर्थात् के, प्रभुए आपणे हस्ताक्षर आप्यां ।

त्रीजुं जिंदगी जीववानी कळा :- आर्ट ओफ लाईफ, जेवी रविशंकर महाराजे बताडेली कळा आजनी छे परन्तु वीरप्रभुए तेने आजथी पच्चीशसो अडसठ वर्ष पहेलां ज बतावी हती । जिनागमो मां निशीथादि छेद सूत्रो, आचारांगादि अंग सूत्रो विगेरे मां प्रभुए क्यांक ने क्यांक तमारा जीवनने वधु फ्रेशनेश करवानां उपायो बताव्यां ज छे । साधुने केम रहेवुं ? क्यां रहेवुं ? तेनी दिनचर्या... तमामने जिनागमोमां समावी लेवामां आवी छे. ज्यारे श्रावको माटे उपासकदशांग आदि आगमोमां जीवनने केम जीवी ने आत्मोन्नती करवी ते पण बताव्युं छे.

आपणे मोरल तरीके जोइये तो जिनागम ए आपणने प्रभु द्वारा मळेली श्रेष्ठतम भेट छे. जेमां प्रभुए आपणा सहूनो सतत ख्याल राख्यो छे.

परमात्मा बाद गुरूमां ने समजीये ।

'तित्थयरो समो सूरि.

आचार्यो छे जिन धरमना दक्ष व्यापारी शूरा ।'

शास्त्रकार महर्षिओए एम ने एम सूरी भगवंतोने अलग अलग उपमा नहिं आपी होय । आचार्य भगवंतो सतत साधु तथा श्रावको ना हितनुं ध्यान राखता होय छे. शासननी जवाबदारी उपरान्त साधुओनां योग-क्षेममां तेमनो पण महत्वनो फाळो होय छे. काळना ओछाया हेठळ ...

साधुओने आगमनां रहस्य समजवामां तकलीफ थवा मांडी,

अने भणावनार नी पण काइंक ओछास देखावा मांडी हती त्यारे

राजसत्ता पासेथी आगमवाचना नी मंजुरी लेवडावी ७ - ७ वखत ज्ञानयज्ञ आरंभ्यो । साधु ने स्वाध्यायनुं सुरक्षा कवच आप्युं । वर्षो सुधी अे परंपरा चाल्या पछी साधुओनी स्मृति हजी क्षीण थवां मांडी त्यारे जिनागमना क्लिष्ट (अघरा) पदार्थो ने वृत्ती-टीका-भाष्य-चूर्णी थी सरळ करीने साधुओने बक्ष्या...

आजे अेमना ए फाळाने समृद्ध राखवानुं कार्य आपणुं छे । एमना उपकार ने सतत संभाळी तेमांथी कांइक आगमसेवा करीने ऋण ओछु करवानुं काम आपणुं । आ सूत्र स्वाध्याय करतां जल्दी जीवमांथी शीव बनीये एज अभ्यर्थना

जिनाज्ञा विरुद्ध कांइ पण लखायुं होय तो

त्रिविधे त्रिविधे मिच्छामि दुक्कडम्

कारतक सुद.१ २०६९
बुधवार, कात्रज पूना
आगम मंदिर

पूज्यपाद गुरुदेवश्री देवचन्द्रसागर सूरिजी
पादपद्मरेणु गणि श्री दिव्यचन्द्रसागर

-: पुस्तक प्राप्ति स्थान :-

(१) श्री वर्धमान जैन आगम तीर्थ
कात्रज जकात नाका के पास, पूना-सातारा रोड
पूना- ४११ ०४६
फोन नं. (०२०) २४३१८६५४, २४३१९८८४

(२) हितेन्द्रभाई छोटालाल शाह
३०४, कौशल एपार्टमेन्ट, रंगीलदास महेतानी शेरी
गोपीपुरा सुरत ३९५ ००१
फोननं. (0261) 2590723, मो. 094280 59823

॥ अर्हम् ॥

पञ्चमगणभृत्श्रीसुधर्मास्वामिविरचितं

श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामि-दृब्धनिर्युक्तियुतं-

सुरिपुरंदर श्रीशीलाङ्काचार्यविहित-विवरणसमन्वितं

॥ श्रीआचाराङ्ग सूत्रम् ॥

ॐ नमः सर्वज्ञाय ॥ जयति समस्तवस्तु-पर्याय-विचारापास्त-तीर्थिकं, विहितैकैकतीर्थ-नयवाद-समूह-वशात्प्रतिष्ठितम् । बहुविधभङ्गि-सिद्धसिद्धान्त-विधूनित-मलमलीमसं, तीर्थमनादिनिधनगत-मनुपममादिनतं जिनेश्वरैः ॥१॥ (स्कन्दकच्छन्द.) आचारशास्त्रं सुविनिश्चितं यथा, जगाद वीरो जगते हिताय यः । तथैव किञ्चिद्गदतः स एव मे, पुनातु धीमान् विनयार्पिता गिरः ॥२॥ शस्त्रपरिज्ञा-विवरण-मतिबहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम् । तस्मात् सुखबोधार्थं गृह्णाम्यहमञ्जसा सारम् ॥३॥ इह हि रागद्वेषमोहाद्यभिभूतेन सर्वेणापि संसारिजन्तुना शारीरमानसानेकातिकटुकदुःखोपनिपातपीडितेन तदपनयनाय हेयोपादेय-पदार्थपरिज्ञाने यत्नो विधेयः, स च न विशिष्ट-विवेकमृते, विशिष्टविवेकश्च न प्राप्ताऽशेषातिशय-कलापाप्तोपदेशमन्तरेण, आप्तश्च रागद्वेषमोहादीनां दोषाणामात्यन्तिकप्रक्षयात्, स चार्हत एव, अतः प्रारभ्यतेऽर्हद्वचनानुयोगः, स च चतुर्धा, तद्यथा- धर्मकथानुयोगो, गणितानुयोगो, द्रव्यानुयोगश्चरणकरणानुयोगश्चेति, तत्र धर्मकथानुयोग उत्तराध्ययनादिकः, गणितानुयागः सूर्यप्रज्ञप्त्यादिकः, द्रव्यानुयोगः पूर्वाणि सम्मत्यादिकश्च, चरणकरणानुयोगश्चाचाराङ्गादिकः, स च प्रधानतमः शेषाणां तदर्थत्वात्, तदुक्तम् चरणपडिवत्तिहेउं जेणियरे तिण्णि अणुयोग'' 'त्ति तथा ''चरणपडिवत्तिहेउं धम्मकहाकालदिक्खमादीया । दविए दंसणसोही दंसणसुद्धस्स चरणं तु ॥१॥ (चरणप्रतिपत्तिहेतवो येनेत्तरे त्रयोऽनुयोगाः । चरणप्रतिपत्तिहेतवो धर्मकथाकालदीक्षादिकाः । द्रव्ये

दर्शनशुद्धिदर्शनशुद्धस्य चरणं तु ।।१।।) गणधरैरप्यत एव तस्यैवादौ प्रणयनमकारि, अतस्तत्प्रतिपादकस्या-चाराङ्गस्यानुयोगः समारभ्यते, स च परमपदप्राप्तिहेतुत्वात्सविघ्नः, तदुक्तम्- "श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महातामपि । अश्रेयसि प्रवृत्तानां, क्वापि यान्ति विनायकाः ।।१।।" तस्मादशेषप्रत्यूहोपशमनाय मङ्गलमभिधेयं, तच्चादिमध्या-वसानभेदात्त्रिधा, तत्रादि-मङ्गलम्, **'सूयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खाय'**मित्यादि, अत्र च भगवत्कथितकथनं भगवद्वचनानुवादो मङ्गलम्; अथवा श्रुतमिति श्रुतज्ञानं, तच्च नन्द्यन्तःपातित्वान्मङ्गलमिति, एतच्चाविघ्नेना-भिलषितशास्त्रार्थपारगमनकारणं, मध्यमङ्गलं लोकसारा-ध्ययनपञ्चमोद्देशकसूत्रं **'से जहा केवि हरए पडिपुण्णे चिट्ठइ समंसि भोम्मे उवसन्तरए सारक्खमाणे'** इत्यादि, अत्र च ह्रदगुणैरा-चार्य्यगुणोत्कीर्त्तनम्, आचार्याश्च पञ्चनमस्कारान्तः पातित्वान्मङ्गलमिति, एतच्चाभिलषितशास्त्रार्थस्थिरी-करणार्थम्, अवसानमङ्गलं नवमाध्यय-नेऽवसानसूत्रम् **'अभिनिव्वुडे अमाई आवकहाए भगवं समियासी'** अत्राभिनिर्वृतगहणं संसारमहातरु-कन्दोच्छेद्यऽविप्रतिपत्त्या ध्यानका-रित्वान्मङ्गलमिति, एतच्च शिष्य (प्रतिशिस्येति) प्रशिष्यस-न्तानाव्यवच्छेदार्थमिति, अध्ययनगतसूत्रमङ्गलत्वप्रतिपादनेनैवा-ध्ययनानामपि मङ्गलत्वमुक्तमेवेति न प्रतन्यते, सर्वमेव वा शास्त्रं मङ्गलं, ज्ञानरूपत्वात्, ज्ञानस्य च निर्जरार्थत्वात्, निर्जरार्थत्वेन च तस्याविप्रति-पत्तिः, यदुक्तम्-"जं अन्नानि कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं । तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमित्तेणं ।।१।।" (यदज्ञानी कर्म क्षपयति बहुकाभिर्वर्षकोटिभिः । तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छवासमात्रेण ।।१।।) मङ्गल-शब्दनिरुक्तं च मां गालयत्यपनयति भवादिति मङ्गलं, मा भूद्गलो विघ्नो गालो वा नाशः शास्त्रस्येति मङ्गलमित्यादि, शेषं त्वाक्षेपपरिहारादिकमन्यतोऽव-सेयमिति ।

साम्प्रतमाचारानुयोगः प्रारभ्यते- आचारस्यानुयोगार्थकथनमाचा-

रानुयोगः सूत्रादनुपश्चादर्थस्य योगोऽनुयोगः, सूत्राध्ययनात्पश्चादर्थकथनमिति भावना, अणोर्व्वा लघीयसः सूत्रस्य महताऽर्थेन योगोऽनुयोगः, स चामीभिर्द्वा-रैरनुगन्तव्यः, तद्यथा-निक्खेवेगट्ठनिरुत्ति-विहिपवित्ती य केण वा कस्स । तद्दारभेयलक्खण तदरिहपरिसा य सुत्तत्थो ।।१।। तत्र निक्षेपो- नामादिः सप्तधा, नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यानुयोगो द्वेधा- आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तो, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तोऽनेकधा, द्रव्येण-सेटिकादिना द्रव्यस्य- आत्मपरमाण्वादेर्द्रव्ये-निषद्यादौ वा अनुयोगो द्रव्या-नुयोगः, क्षेत्रानुयोगः क्षेत्रेण क्षेत्रस्य क्षेत्रे वाऽनुयोगः क्षेत्रानुयोगः, एवं कालेन कालस्य काले वाऽनुयोगः कालानुयोगः, वचनानुयोग एकवचनादिना, भावानुयोगो द्वेधा- आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतो ज्ञातोपयुक्तो, नोआगम-तस्तु औपशमिकादिभावैः, तेषां चानुयोगोऽर्थकथनं भावानुयोगः, शेषमावश्य- कानुसारेण ज्ञेयं, केवलमिहानुयोगस्य प्रस्तुतत्वात्तस्य चाचार्याधीनत्वात् केनेति द्वारं विव्रियते, तथोपक्रमादीनि च द्वाराणि प्रचुरतरोपयोगित्वात्प्रदर्श्यन्ते, तत्र केनेति कथम्भूतेन ?, यथाभूतेन च सूरिणा व्याख्या कर्त्तव्या तथा प्रदर्श्यते- 'देसकुलजाइरूवो संघयणी धिइजुओ अणासंसा । अविकत्थणो अमाई थिर-परिवाडी गहियवक्को ।।१।। जियपरिसो जियनिद्दो मज्झत्थो दासकालभावन्नू । आसन्नलद्धपइभो णाणाविहदेसभासण्णू ।।२।। पंचविहे आयारे जुत्तो सुत्तत्थ- तदुभयविहिन्नू । आहरणहेउकारण-णयणिउणो गाहणाकुसलो ।।३।। ससमय-परसमयविऊ गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो । गुणसयकलिओ जुत्तो पवयणसारं परिकहेउं ।।४।। आर्यदेशोद्भूतः सुखावबोधवचनो भवतीत्यतो देशग्रहणं, प्रतृकं कुलभिक्ष्वाक्वादि ज्ञातकुलश्च यथोत्क्षिप्तभारवहने न श्राम्यतीति, मातृकी जातिस्तत्संपन्नो विनयादिगुणवान् भवति, '**यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ती**'ति रूपग्रहणं, संहननधृतियुतो व्याख्यानादिषु न खेदमेति, अनाशंसी श्रोतृभ्यो न

वस्त्राद्याकाङ्क्षति, अवि-कत्थनो हितिमितभाषी, अमायी सवत्र तवश्वास्य:, स्थिरपरिपाटि: परिचित-ग्रन्थस्य सूत्रार्थगलनासंभवात्, ग्राह्यवाक्य: सर्वत्रा-स्खलिताज्ञ:, जितपर्षद् राजादिसदसि न क्षोभमुपयाति, जितनिद्रोऽप-मत्तत्वान्निद्राप्रमादिन: शिष्यान् सुखेनैव प्रबोधयति, मध्यस्थ: शिष्येषु समचित्तो भवति, देशकालभावज्ञ: सुखेनैव गुणवद्देशादौ विहरिष्यति, आसन्नलब्धप्रतिभो द्राक् परवाद्युत्तरदान-समर्थो भवति, नानाविधदेशभाषाविधिज्ञस्य नानाविध-देशजा: शिष्या: सुखं व्याख्यामवभोत्स्यन्ते, ज्ञानाद्याचारपञ्चकयुक्त: श्रद्धेयवचनो भवति, सूत्रार्थतदुभयविधिज्ञ उत्सर्गापवादपञ्चं यथावद् ज्ञापयिष्यति, हेतूदाहरण-निमित्तनयप्रपञ्चज्ञ: अनाकुलो हेत्वादीनाचष्टे, ग्राहणाकुशलो बह्वी-भिर्युक्तिभि: शिष्यान् बोधयति, स्वसमयपरसमयज्ञ: सुखेनैव तत्स्थापनोच्छेदौ करिष्यति, गम्भीर: खेदसह:, दीप्तिमान् पराघृष्य:, शिवहेतुत्वात् शिव:, तदधिष्ठितदेशे मार्य्याद्युपशमनात्, सौम्य: सर्वजन-नयनमनोरमणीय:, गुणशतकलित: प्रश्रयादिगुणोपेत:, एवंविध: सूरि: प्रवचनानुयोगे योग्यो भवति ।। तस्य चानुयोगस्य महापुरस्येव चत्वार्यनु-योगद्वाराणि-व्याख्याङ्गानि भवन्ति, तद्यथा-उपक्रमो निक्षेपोऽनुगमो नय:, तत्रोपक्रमणमुपक्रम: उपक्रम्यतेऽनेनास्मादस्मिन्निति वोपक्रम:-व्याचिख्या-सितशास्त्रस्य समीपानयनमित्यर्थ:, स च शास्त्रीयलौकिकभेदाद् द्विधा, तत्र शास्त्रीय: आनुपूर्वी नाम प्रमाणं वक्तव्यताऽर्थाधिकार: समवतारश्चेति षोढा, लौकिको नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढैव । निक्षेपण-मनेनास्मादस्मिन्निति वा निक्षेप:, उपक्रमानीतस्य व्याचिख्या-सितशास्त्रस्य नामादिन्यसनमित्यर्थ:, स च त्रिविध:, तद्यथा-ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्न: सूत्रालापकनिष्पन्नश्च, तत्रौघनिष्पन्नोऽङ्गाध्ययनादिसामान्याभिधानन्यास:, नामनिष्पन्न आचारशस्त्रपरिज्ञादिविशेषाभिधाननामादिन्यास:, सूत्रालाप-कनिष्पन्नश्च सूत्रालापकानां नामादिन्यसनमिति । अनुगमनमनेनास्माद-स्मिन्निति वाऽनुगम:, अर्थकथनमित्यर्थ:, स च द्विधा-निर्युक्त्यनुगम:

सूत्रानुगमश्चेति, तत्र निर्युक्त्यनुगमस्त्रिविधः, तद्यथा–निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमः उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमश्चेति, तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमो निक्षेप एव सामान्यविशेषाभिधानयोरोधनिष्पन्ननामनिष्पन्नाभ्यां निक्षेपाभ्यामनुगतः सूत्राक्षेपया वक्ष्यमाणलक्षणश्चेति, उपोद्घात-निर्युक्त्यनुगम–श्चाभ्यां द्वाररगाथाभ्यामनुगन्तव्यः, तद्यथा– '**उद्देसे णिद्देसे य णिग्गमे खेत्त–कालपुरिसे य । कारणपच्चयलक्खण णए समोयारणाऽणुमए ।।१।। किं कतिविहं कस्स कहिं केसु कह केच्चिरं हवइ कालं । कइ संतरमविरहियं भवागरिस फासणणिरुत्ती ।।२।।**' (उद्देशो निर्देशश्च निर्गमः क्षेत्रं कालः पुरुषश्च । कारणं प्रत्ययः लक्षणं नयाः समवतारः अनुमतम् ।।१।। किं कतिविध कस्य क्व केषु कियच्चिरं भवति कालम् । कति सान्तरमरहितं भावकर्षाः स्पर्शना निरुक्तिः ।।२।।) सूत्रस्पर्शिक–निर्युक्त्यनुगमः सूत्रावयवानां नयैः साक्षेपपरिहारमर्थकथनं, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगमे, स च सूत्रोच्चारणरूपः पदच्छेदरूपश्चेति । अनन्तधर्माध्यासितं वस्त्वेकेनैव धर्मेण नयन्ति–परिच्छिन्दन्तीति ज्ञानविशेषा नयाः ते च नैगमादयः सप्तेति । साम्प्रतमाचाराङ्गस्योपक्रमादीनामनुयोगद्वाराणां यथायोगं किञ्चिद् बिभणिषुरशेषप्रत्यूहोपशमनाय मङ्गलार्थं प्रेक्षापूर्वकारिणां च प्रवृत्त्यर्थं सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनप्रतिपादिकां निर्युक्तिकारो गाथामाह–

वंदित्तु सव्वसिद्धे जिणे अ अणुओगदायए सव्वे ।
आयारस्स भगवओ निज्जुत्तिं कित्तइस्सामि ।।१।।

तत्र वन्दित्वा सर्वसिद्धान् जिनांश्चेति मङ्गलवचनम्, अनुयोगदायकानित्येतच्च सम्बन्धवचनमपि, आचारस्येत्यभिधेयवचनं, निर्युक्तिं करिष्ये इति प्रयोजनकथनमिति तात्पर्यार्थः, अवयवार्थस्तु 'वन्दित्वे'ति 'वदि अभिवादन–स्तुत्यो'रित्यर्थद्वयाभिधायी धातुः, तत्राभिवादनं कायेन स्तुतिर्वाचा, अनयोश्च मनःपूर्वकत्वात्करणत्रयेणापि नमस्कार आवेदितो भवति, सितं ध्मातमेषामिति सिद्धाः–प्रक्षीणाशेष–

कर्माणः, सर्वे च ते सिद्धाश्च सर्वसिद्धाः, सर्वग्रहणं तीर्थातीर्थानन्त-परम्परादिसिद्धप्रतिपादकं, तान्वन्दित्वेति सम्बन्धः सर्वत्र योज्यः, राग-द्वेषजितो जिनाः-तीर्थकृतस्तानपि सर्वान् अतीतानागत-वर्त्तमानसर्वक्षेत्रगतानिति, अनुयोगदायिनः-सुधर्मस्वामिप्रभृतयो यावदस्य भगवतो निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्योऽतस्तान् सर्वानिति, अनेन चाम्नायकथनेन स्वमनीषिकाव्युदासः कृतो भवति, 'वन्दित्वे'ति क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रिया-सव्यपेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह-'आचारस्य' यथार्थनाम्नः 'भगवत' इति धर्मार्थप्रयत्नगुणभाजस्तस्ये-वंविधस्य, निश्चयेनार्थप्रतिपादिका युक्तिर्निर्युक्तिस्तां 'कीर्त्तयिष्ये' (चान्द्रमतेन णिज उभयपदभावात्) अभिधास्ये इति अन्तस्तत्त्वेन निष्पन्नां निर्युक्तिं बहिस्तत्त्वेन प्रकाशयिष्यामीत्यर्थः ।।१।। यथाप्रतिज्ञातमेव बिभणिषुर्निक्षे-पार्हाणि पदानि तावत् सुहृद्भूत्वाऽऽचार्यः संपिण्ड्य कथयति-

आयार अंग सुयखंध बंभ चरणे य तहेव सत्थे य ।
परिण्णाए संणाए निक्खेवो तह दिसाणं च ।।२।।

आचारअङ्गश्रुतस्कन्धब्रह्मचरणशस्त्रपरिज्ञासंज्ञादिशामित्येतेषां निक्षेपः कर्त्तव्य इति । तत्राचारब्रह्मचरणशस्त्रपरिज्ञाशब्दा नामनिष्पन्ने द्रष्टव्याः, अङ्गश्रुतस्कन्धशब्दा ओघनिष्पन्ने, संज्ञादिक्शब्दौ सुत्रालाप-कनिष्पन्ने निक्षेपे द्रष्टव्याविति ।।२।। एतेषां मध्ये कस्य कतिविधो निक्षेप इत्यत आह-

चरणदिशावज्जाणं निक्खेवो चउविहो (क्कओ) य नायव्वो ।
चरणंमि छव्विहो खलु सत्तविहो होइ उ दिसाणं ।।३।।

चरणदिग्वर्जानां चतुर्विधो निक्षेपः, चरणस्य षड्विधः, दिक्शब्दस्य सप्तविधो निक्षेपः, अत्र च क्षेत्रकालादिकं यथासम्भव-मायोज्यम् ।।३।। नामादिचतुष्टयं सर्वव्यापीति दर्शयितुमाह-

जत्थ य जं जाणिज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं ।

जत्थविय न जाणिज्जा चउक्कयं निक्खिवे तत्थ ।।४।।

'यत्र' चरणदिक्शब्दादौ यह निक्षेप-क्षेत्रकालादिकं जानीयात्तं तत्र निरवशेषं निक्षेपेद्, यत्र तु निरवशेषं न जानीयादाचाराङ्गादौ तत्रापि नामस्थापनाद्रव्यभावचतुष्कात्मकं निक्षेपं निक्षेपेदित्युपदेश इति गाथार्थः ।।४।। प्रदेशान्तरप्रसिद्धस्यार्थस्य लाघवमिच्छता निर्युक्तिकारेण गाथाऽभ्यधायि-

आयारे अंगंमि य पुव्वुद्दिट्ठो चउक्कनिक्खेवो ।
नवरं पुण नाणत्तं भावायारंमि तं वोच्छं ।।५।।

क्षुल्लिकाचारकथायामाचारस्य पूर्वोदिष्टो निक्षेपः अङ्गस्य तु चतुरङ्गाध्ययन इति, यश्चात्र विशेषः सोऽभिधीयते- 'भावाचारविषय' सति ।।५।। यथाप्रतिज्ञातमाह-

तस्सेगट्ठ पवत्तण पढमंग गणी तहेव परिमाणे ।
समोयारे सारो य सत्तहि दारेहि नाणत्तं ।।६।।

'तस्य' भावाचारस्य एकार्थाभिधायिनो वाच्याः, तथा केन प्रकारेण प्रवृत्तिः-पवर्त्तनमाचारस्याभूत् तच्च वाच्यम्, तथा प्रथमाङ्गता च वाच्या, तथा गणी-आचार्यस्तस्य कतिविधं स्थानमिदमिति च वाच्यं, तथा 'परिमाणम्' इयत्ता वाच्या, तथा किं क्व समवतरतीत्येतच्च वाच्यं, तथा सारश्च वाच्यः, इत्येभिः सप्तभिर्द्वारैः पूर्वस्माद्भावाचारादस्य भेदो-नानात्वमिति पिण्डार्थः ।।६।। अवयवार्थं तु निर्युक्तिकृदेवाभिधातुमाह-

आयारो आचालो आगालो आगरो य आसासो ।
आयरिसो अंगंति य आइण्णाऽऽज्जाइ आमोक्खा ।।७।।

आचर्य्यते आसेव्यत इत्याचारः, स च नामादिचतुर्द्धा, तत्र ज्ञशरीर-भव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तो द्रव्याचारोऽनया गाथयाऽनुसर्त्तव्यः- '**णामण-धोयण-वासण-सिक्खावण-सुकरणाविरोहीणि । दव्वाणि जाणि लोए दव्वायारं वियाणाहि ।।१।।**' (नामनधावन-वासनशिक्षणसुकरणाविरोधीनि । द्रव्याणि यानि लोके द्रव्याचार विजानीहि

।।१।।) भावाचारो द्विधा–लौकिको लोकोत्तरश्च, तत्र लौकिकः पाषण्डिकादयः पञ्चरात्रादिकं यत् कुर्व्वन्ति स विज्ञेयो, लोकोत्तरस्तु पञ्चधा ज्ञानादिकः, तत्र ज्ञानाचारोऽष्टधाः, तद्यथा– **काले विणए बहुमाने, उवहाणे तहा अणिण्हवणे । वंजणअत्थतदुभए, अट्ठविहो णाणमायारो ।।१।।'** दर्शनाचारोऽप्यष्टधैव, तद्यथा– **'निस्संकियनिक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य । उववूहथिरीकरणे वच्छल्लपभावणे अट्ठ ।।२।।'** चारित्राचारोऽप्यष्टधैवः– **'तिन्नेव य गुत्तीओ पंच समिइओ अट्ठ मिलियाओ । पवयणमाईया इमा तासु ठिओ चरणसंपन्नो ।।३।।'** तपआचारो द्वादशधा, तद्यथा– **'अणसणमूणोयरिया वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ । कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ।।४।। पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ । झाणं उस्सग्गोवि य अब्भिंतरओ तवो होई ।।५।।'** वीर्याचारस्त्वनेकधः– **'अणिगूहियबलविरिओ परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो । जुंजइ य जहाथामं नायव्वो वीरियायारो ।।६।।'** एष पञ्चविध आचारः एतत्प्रतिपादकश्चायमेव ग्रन्थविशेषो भावाचारः, एवं सर्वत्र योज्यम् । इदानीमाचालः, आचाल्यतेऽनेनातिनिविडं कर्मादीत्याचालः, सोऽपि चतुर्धा, व्यतिरिक्तो वायुः, भावाचालस्त्वयमेव ज्ञानादिः पञ्चधा । इदानीमागालः, आगालनमागालः–समप्रदेशा–वस्थानं, सोऽपि चतुर्धा, व्यतिरिक्त उदकादेर्निम्नप्रदेशावस्थानं, भावागालो ज्ञानादिक एव, तस्यात्मनि रागादिरहितेऽवस्थानमितिकृत्वा । इदानीमाकरः, आगत्य तस्मिन् कुर्वन्तीत्याकरः, नामादिः, तत्र व्यतिरिक्तो रजतादिः, भावाकरोऽयमेव ज्ञानादिः, तत्प्रतिपादकश्चायमेव ग्रन्थो, निर्जरादिरत्नानामत्र लाभात् । इदानीमाश्वासः, आश्वसन्त्यस्मिन्नित्याश्वासो नामादिः, तत्र व्यतिरिक्तो यानपात्रद्वीपादिः, भावाश्वासो ज्ञानादिरेव । इदानीमादर्शः, आदृश्यते अस्मिन्नित्यादर्शो नामादिः, व्यतिरिक्तो दर्पणः, भावादर्श उक्त एव, यतोऽस्मिन्नितिकर्त्तव्यता

दृश्यते । इदानीमङ्गम्, अज्य(ध)ते–व्यक्तीक्रियते अस्मिन्नित्यङ्गं, नामाद्येव, तत्र व्यतिरिक्तं शिरोबाह्वादि, भावाङ्गमयमेवाचारः । इदानी–माचीर्णम्–आसेवितं, तच्च नामादिषोढा, तत्र व्यतिरिक्तं द्रव्याचीर्णं सिंहादेस्तृणानिपरिहारेण पिशितभक्षणं, क्षेत्राचीर्णं वाल्हीकेषु सक्तवः कोङ्कणेषु पेया, कालाचीर्णं त्विदं,– **'सरसो चंदनपंको अग्घइ सरसा य गंधकासाई । पाडलिसिरीसमल्लिय पियाइं काले निदाहंमि ।।१।।'** (सरसश्चन्दन–पङ्कोऽर्घति सरसा च गन्धकाषायिकी । पाटल–शिरीषभल्लिकाः प्रियाः काले निदाघे ।।१।।) भावाचार्णं तु ज्ञानादिपञ्चकं, तत्प्रतिपादकश्चाचारग्रन्थः । इदानीमाजातिः, आजायन्ते तस्यामि–त्याजातिः, साऽपि चतुर्द्धा, व्यतिरिक्ता मनुष्यादिजातिः, भावाजातिस्तु ज्ञानाद्याचारप्रसूतिरयमेव ग्रन्थ इति । इदानी–मामोक्षः, आमुच्यन्तेऽ–स्मिन्नित्यामोक्षणं वाऽऽमोक्षो, नामादिः, तत्र व्यतिरिक्तो निगडादेः, भावामोक्षः, कर्माष्टकोद्वेष्टनमशेषमेतत्साधकश्चायमेवाचार इति । एते किञ्चिद्विशेषादेकमेवार्थं विशिंषन्तः प्रवर्त्तन्त इत्येकार्थिकाः, शक्रपुरन्दरा–दिवत् एकार्थाभिधायिनां च छन्दश्चितिबन्धानुलोम्यादिप्रतिपत्त्यर्थ–मुद्घट्टनम्, उक्तं च– **'बंधाणुलोमया खलु सत्थंमि य लाघवं असम्मोहो । संतगुण–दीवणाविय एगट्ठगुणा हवंतेए ।।१।।' ।।७।।** (बन्धानुलोमता खलु शास्त्रे च लाघवमसंमोहः सद्गुणदीपनमपि च एकार्थगुणा भवन्त्येते ।।१।।) इदानीं प्रवर्त्तनाद्वारं, कदा पुनर्भगवताऽऽचारः प्रणीत इत्यत आह–

सव्वेसिं आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए ।
सेसाइ अंगाइं एक्कारस आणुपुव्वीए ।।८।।

सर्वेषां तीर्थङ्कराणां तीर्थप्रवर्त्तनादावाचारार्थः प्रथमतयाऽभवद्भवति भविष्यति च, ततः शेषाङ्गार्थं इति, गणधरा अप्यनयैवानुपूर्व्या सूत्रतया ग्रन्थन्तीति ।।८।। इदानीं प्रथमत्वे हेतुमाह–

आयारो अंगाणं पढमं अंगं दुवालसण्हंपि ।

इत्थ य मोक्खोवाओ एस य सारो पवयणस्स ॥९॥

अयमाचारो द्वादशानामप्यङ्गानां प्रथमङ्गमित्यनुद्य कारणमाह- यतोऽत्र मोक्षोपायः-चरणकरणं प्रतिपाद्यते, एष च प्रवचनस्य सारः प्रधानमोक्षहेतुप्रति-पादनाद्, अत्र च स्थितस्य शेषाङ्गाध्ययनयोग्यत्वाद् अस्य प्रथमतयोपन्यास इति ॥९॥ इदानीं गणिद्वारं, साधुवर्गो गुणगणो वा गणः सोऽस्यास्तीति गणि, आचारायत्तं च गणित्वमिति प्रदर्शयन्नाह-

आयारम्मि अहीए जं नाओ होइ समणधम्मो उ ।
तम्हा आयारधरो भण्णइ पढमं गणिट्ठाणं ॥१०॥

यस्मादाचाराध्ययनात् क्षान्त्यादिकश्चरणकरणात्मको वा श्रमणधर्म्मः परिज्ञातो भवति, तस्मात्सर्वेषां गणित्वकारणानामाचारधरत्वं प्रथमं आद्यं प्रधानं वा गणिस्थानमिति ॥१०॥ इदानीं परिमाणं- किं पुनरस्याध्ययनतः पदतश्च परिमाणमित्यत आह-

णवबंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ ।
हवइ य सपंचचूलो बहुबहुतरओ पयग्गेणं ॥११॥

तत्राध्ययनतो नवब्रह्मचर्य्याभिधानाध्ययनात्मकोऽयं पदतोऽष्टा-दशसहस्रात्मको 'वेद' इति विदन्त्यस्माद्धेयोपादेयपदार्थानिति वेदः- क्षायोपशमिकभाववर्त्यंयमाचार इति । सह पञ्चभिश्चूडाभिर्वर्त्तत इति सपञ्चचूडश्च भवति, उक्तशेषानुवादिनी चूडा, तत्र प्रथमा 'पिंडेसण (१) सेज्जारियाभासज्जाया (२-३-४) य वसणा (५) य पाएसा (६) (पिंडसणसिज्जिरिया भासा वत्थेसणा य पाएसा इति प्र.) उग्गहपडिमत्ति (७)' सप्providedाध्ययनात्मिका, द्वितीया सत्तसत्तिक्कया, तृतीया भावना, चतुर्थी विमुक्तिः, पञ्चमी निशीथाध्ययनं, 'बहुबहुरओ पदग्गेणं'ति तत्र चतुश्चूलिकात्मकद्वितीयश्रुतस्कन्धप्रक्षेपाद्बहुः, निशीथाध्ययन-पञ्चमचूलिकाप्रक्षेपाद्बहुतरोऽनन्तगमपर्य्यायात्मकतया बहुतमश्च, पदाग्रेणपदपरिमाणेन भवतीति ॥११॥ इदानीमुपक्रमान्तर्गतं समवतार-द्वारं, तत्रैताश्चूडा नवसु ब्रह्मचर्याध्ययनेष्ववतरन्तीति दर्शयितुमाह-

आयारग्गाणत्थो बंभच्चेरेसु सो समोयरइ ।
सोऽवि य सत्थपरिण्णाए पिंडिअत्थो समोयरइ ॥१२॥
सत्थपरिण्णाअत्थो छस्सुवि काएसु सो समोयरइ ।
छज्जीवणियाअत्थो पंचसुवि वएसु ओयरइ ॥१३॥
पंच य महव्वयाइं समोयरंते य सव्वदव्वेसुं ।
सव्वेसिं पज्जवाणं अणंतभागम्मि ओयरइ ॥१४॥

उत्तानार्थाः, नवरम् 'आचाराग्राणि' चूलिकाः द्रव्याणि-धर्मास्तिकायादिनी पर्याया-अगुरुलघ्वादयः तेषामनन्तभागे व्रतानामवतार इति ॥१२-१३-१४॥ कथं पुनर्महाव्रतानां सर्वद्रव्येष्ववतार इति ? तदाह-

छज्जीवणिया पढमें बीए चरिमे य सव्वदव्वाइं ।
सेसा महव्वया खलु तदेक्कदेसेण दव्वाणं ॥१५॥

(षड्जीवनिकायः प्रथमे द्वितीये चरमे च सर्वद्रव्याणि । शेषाणि महाव्रतानि खलु तदेकदेशेन द्रव्याणाम् ।) छज्जीवणिया'इत्यादिस्पष्टा, कथं पुनर्महाव्रतानां सर्वद्रव्येष्ववतारो न सर्वपर्यायेष्विति उच्यते, येनाभिप्रायेण चोदितवांस्तमाविष्कर्तुमाह- 'णणु सव्वणभपएसाणंतगुणं पढमसंजमट्ठाणं । छव्विहपरिवुड्ढीए छट्ठाणसंखया सेढी ॥१॥ अन्ने के पज्जाया ? जेणुवउत्ता चरित्तविसयम्मि । जे तत्तोऽणंतगुणा जेसिं तमणंतभागम्मि ॥२॥ अन्ने केवलगम्मत्ति ते मई ते य के तदब्भहिया ? । एवंपि होज्ज तुल्ला णाणंतगुणत्तणं जुत्तं ॥३॥ सेढीसु णाणदंसणपज्जाया तेर तप्पमाणेसा । इह पुण चरित्तमेत्तोवओगिणो तेण ते थोवा ॥४॥ अयमासामर्थो लेशतः- नन्वित्यसूयायां, संयमस्थानान्यसंख्यातानि तावद्भवन्ति, तेषां यज्जघन्यं तदविभागपलिच्छेदेन बुद्ध्या खण्ड्यमानं पर्यायैरनन्ताविभागपलिच्छेदात्मकं भवति, तच्च पर्यायसंख्यया निर्दिष्टं सर्वाकाशप्रदेशसंख्याया अनन्तगुणं, सर्वनभःप्रदेशवर्गीकृतप्रमाणमित्यर्थः, ततो द्वितीयादिस्थानैरसंख्यातगच्छगतैरनन्तभागादिकया वृद्ध्या षट्स्थानकानामसंख्येयस्थानगता श्रेणिर्भवति, एवं चैकमपि स्थानं सर्वपर्यायान्वितं

न शक्यते परिच्छेत्तुं । किं पुन: सर्वाण्यपीत्यत: केऽन्ये पर्याया: ? येषामनन्तभागे व्रतानि वर्तेरन्निति । स्यान्मति:, अन्ये केवल(लि)गम्या इति, इदमुक्तं भवति–केवल–गम्याप्रज्ञापनीयपर्य्यायाणामपि तत्र प्रक्षेपाद्बहुत्वम्, एवमपि ज्ञानज्ञेययोस्तुल्यत्वात्तुल्या एव नानन्तगुणा इति । अत्राचार्य्य आहु(र्य्या आहु:)–याऽसौ संयम–स्थानश्रेणिर्निरुपिता सा सर्वा चारित्रपर्य्यायैर्ज्ञानदर्शनपर्यायसहितै: परिपूर्णा तत्प्रमाणासर्वाकाश–प्रदेशानन्तगुणा, इह पुनश्चारित्रमात्रोपयोगित्वात्पर्यायनन्तभागवृत्तित्व–मित्यदोष: । इदानी सारद्वारं, क: कस्य सार इत्याह–

अंगाणं किं सारो ? आयारो तस्स हवइ किं सारो ? ।
अणुओगत्थो सारो तस्सवि य परूवणा सारो ।।१६।।

स्पष्टा, केवलमनुयोगार्थो–व्याख्यानुभूतोऽर्थस्तस्य प्ररूपणा–यथास्वं विनियोग इति अन्यच्च–

सारो परूवणाए चरणं तस्सवि य होइ निव्वाणं ।
निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाहं जिणा बिंति ।।१७।।

स्पष्टैव । इदानीं श्रुतस्कन्धपदयोर्नामादिनिक्षेपादिकं पूर्ववद्विधेयं, भावेन चेहाधिकार:, भावश्रुतस्कन्धश्च ब्रह्मचर्यात्मक इत्यतो ब्रह्मचरण–शब्दौ निक्षेप्तव्यावित्याह–

बंभम्मी य चउक्कं ठवणाए होइ बंभणुप्पत्ती ।
सत्तण्हं वण्णाण नवण्हं वण्णंतराणं च ।।१८।।

तत्र ब्रह्म नामादिचतुर्द्धा, तत्र नामब्रह्म ब्रह्मे त्यभिधानम्. असद्भावस्थापना अक्षादौ सद्भावस्थापना प्रतिविशिष्टयज्ञोपवीताद्याकृतिमृल्लेपादौ द्रव्ये, अथवा स्थापनायां व्याख्यायमानायां ब्राह्मणोत्पत्तिर्वक्तव्या, तत्प्रसङ्गेन च सप्तानां च वर्णानां नवानां च वर्णान्तराणामुत्पत्तिर्भणनीयेति । यथाप्रतिज्ञातमाह–

एक्का य मणुस्सजाई रज्जुप्पत्तोइ दो कया उसभे ।
तिण्णेव सिप्पवणिए सावगधम्मम्मि चत्तारि ।।१९।।

यावन्नाभेयो भगवान्नाद्यापि राजलक्ष्मीमध्यास्ते, तावदेकैव मनुष्य-जातिः, तस्यैव राज्योत्पत्तौ भगवन्तमेवाश्रित्य ये स्थितास्ते क्षत्रियाः, शेषाश्च शोचनाद्रोदनाच्च शूद्राः, पुनरग्न्युत्पत्तावयस्कारादिशिल्प-वाणिज्यवृत्त्या वेशना-द्वैश्याः भगवतो ज्ञानोत्पत्तौ भरतकाकणी-लाञ्छनाच्छ्रावका एव ब्राह्मणा जज्ञिरे, (जे राय अस्सिता ते खत्तिआ जाया, अणस्सिया गिहवइणो जाया,, जया अग्गी उप्पण्णो तया पागभा-वस्सिता सिप्पिया वाणियगा जाया, तेहिं तेहिं सिप्पवाणिज्जेहिं वित्तिं विसंतीति वइस्सा उप्पण्णा । भट्टारए पव्वइए भरहे अभिसित्ते सावगधम्मे उप्पण्णे बंभणा जाया, णिस्सिता बंभणा जाया, माहणत्ति उक्कस्सगभावा धम्मपिआ जं च किंचिवि हणंत पिच्छति तं निवारेंति मा हण भो मा हण, एवं ते जणेण सुकम्मनिव्वत्तितसण्णा बंभणा जाया । जे पुण अणस्सिता असिप्पिणो असावगा ते वय खला इतिकाउं तेसु तेसु पओयणेसु हिंसाचोरियादियासुदुब्भमाणा सोगदोहणसीला सुद्दा संवत्ता (इति चूर्णिः) एते शुद्धास्त्रयश्चान्ये गाथान्तरितगाथया प्रदर्शयिष्यन्ते ।। साम्प्रतं वर्णवर्णान्तर-निष्पनन्नं संख्यानमाह-

संजोगे सोलसगं सत्त य वण्णा उ नव य अंतरिणो ।
एए दोवि विगप्पा ठवणा बंभस्स णायव्वा ।।२०।।

संयोगेन षोडश वर्णाः समुत्पन्नाः, तत्र सप्त वर्णा नव तु वर्णान्तराणि, एतच्च वर्णवर्णान्तरविकल्पद्वयं स्थापनाब्रह्मेति ज्ञातव्यम् ।। साम्प्रतं पूर्वसूचितं वर्णत्रयमाह-यदि वा प्रागुद्दिष्टान् सप्त वर्णानाह-

पगई चउक्कगाणंतरे य ते हुंति सत्त वण्णा उ ।
आणंतरेसु चरमो वण्णो खलु होइ णायव्वो ।।२१।।

प्रकृतयश्चतस्रः-ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राख्या आसामेव चतसृणामनन्तरयोगेन प्रत्येकं वर्णत्रयोत्पत्तिः, तद्यथा-द्विजेन क्षत्रिययोषितो जातः प्रधान-क्षत्रियः संकरक्षत्रियो वा, एवं क्षत्रियेण वैश्ययोषितो वैश्येन शूद्रयाः प्रधान-संकरभेदौ वक्तव्यावित्येवं सप्त वर्णा भवन्ति, अनन्तरेषु

भवा आनन्तरास्तेषु योगेषु चरमवर्णव्यपदेशो भवति–ब्राह्मणेन क्षत्रियाया: क्षत्रियो भवतीत्यादि, स च स्वस्थाने प्रधानो भवतीतिभाव: ।। इदानीं वर्णान्तराणां नवानां नामान्याह–

अवट्ठुग्गनिसाया य अजोगवं मागहा य सूया य ।
खत्ता (य) विदेहावि य चंडाला नवमगा हुंति ।।२२।।

अम्बष्ठ उग्र: निषाद: अयोगवं मागध: सूत: क्षत्ता विदेह: चाण्डालश्चेति ।। कथमेते भवन्तीत्याह–

एगंतरिए इणमो अंबट्ठो चेव होइ उग्गो य ।
बिइयंतरिअ निसाओ परासरं तं च पुण वेगे ।।२३।।
पडिलोमे सुद्दई अजोगव मागहो य सूओ अ ।
एगंतरिए खत्तो विदेहा चेव नायव्वा ।।२४।।
बितियंतरे नियमा चण्डालो सोऽवि होइ णायव्वो ।
अणुलोमे पडिलोमे एव ए, भवे भेया ।।२५।।

आसामर्थो यन्त्रकादवसेय: तच्चेदम्–

ब्रह्मपुरुष: वैश्यास्त्री अम्बष्ठ:, **क्षत्रिय: पुरुष:** शूद्री स्त्री उग्र:, **ब्राह्मण: पुरुष:** शूद्री स्त्री निषाद: पारासरो वा, **शूद्र: पुरुष:** वैश्या स्त्री अयोगवम्, **वैश्य पुरुष:** क्षत्रिया स्त्री मागध:, **क्षत्रिय पुरुष:** ब्राह्मस्त्री सूत:, **शूद्र:पुरुष:** क्षत्रिया स्त्री क्षत्ता, **वैश्यपुरुष:** ब्राह्मस्त्री वैदेह:, **शूद्रपुरुष:** ब्राह्मस्त्री चाण्डाल:,

एतानि नव वर्णान्तराणि, इदानीं वर्णान्तराणां संयोगोत्पत्तिमाह–

उग्गेणं खत्ताए सोवागो वेणवो विदेहेणं ।
अंबट्ठीए सुद्दीय बुक्कसो जो निसाएणं ।।२६।।
सूएण निसाईए कुक्करसो सोतव होइ णायव्वो ।
एसो बीओ भेओ चउव्विहो होइ नायव्वो ।।२७।।

अनयोरप्यर्थो यन्त्रकादवसेय:, तच्चेदम् । (तच्च प्रथमचतुष्कोष्ठ-कादवगन्तव्यम् प्र.) **उग्रपुरुष:** क्षत्ता स्त्री श्वपाक:, **विदेह पुरुष:** क्षत्ता

स्त्री वैणवः,

निषाद पुरुषः अम्बष्ठी स्त्री शूद्री स्त्री वा बुक्कसः, शुद्रः पुरुषः निषाद स्त्री कुक्कुरकः गतं स्थापनाब्रह्म, इदानीं द्रव्यब्रह्मप्रतिपादनाय आह-

दव्वं सरीरभविओ अन्नाणी वत्थिसंजमो चेव ।
भावे उ वत्थिसंजम णायव्वो संजमो चेव ॥२८॥

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं शाक्यपरिव्राजकादीनामज्ञानानुगतचेतसां वस्तिनिरोधमात्रं विधवाप्रोषिभिर्तुकादीनां च कुलव्यवस्थार्थं कारितानुमतियुक्तं द्रव्यब्रह्म, भावब्रह्म तु साधुनां वस्तिसंयमः, अष्टादशभेदरूपोऽप्ययं संयम एव, सप्तदशविधसंयमाभिन्नरूपत्वादस्येति, अष्टादश भेदास्त्वमी- 'दिव्यात्कामरतिसुखात् त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम् । औदारिकादपि तथा तद्ब्रह्माष्टादशविकल्पम् ॥१॥' चरणनिक्षेपार्थमाह-

चरणंमि होइ छक्कं गइमाहारो गुणो व चरणं च ।
खित्तंमि जंमि खित्ते काले कालो जहिं जाओ (जो उ) ॥२९॥

चरणं नामादिषोढा, व्यतिरिक्तं त्रिधा भवति-गतिभक्षणगुणभेदात्, तत्र गतिचरणं गमनमेव, आहारचरणं मोदकादेः, गुणचरणं द्विधा-लौकिकं लोकोत्तरं च, लौकिकं यत् द्रव्यार्थं हस्तिशिक्षादिकं वैद्यकादिकं वा शिक्षन्ते, लोकोत्तरं साधूनामनुपयुक्तचरणमुदायिनृपमारकादेर्वा, क्षेत्रचरणं यस्मिन् क्षेत्रे गत्याहारादि चर्य्यते व्याख्यायते वा, शब्दसामान्यान्तर्भावाद्वा शालिक्षेत्रादिचरणमिति, कालेऽप्येवमेव ॥ भावचरणमाह-

भावे गइमाहारो गुणो गुणवओ पसत्थमपसत्था ।
गुणचरणे पसत्थेण बंभचेरा नव हवंति ॥३०॥

भावचरणमपि गत्याहारगुणभेदात् त्रिधा, तत्र गतिचरणं साधोरुपयुक्तस्य युगमात्रदत्तदृष्टेर्गच्छतः, भक्षणचरणमपि शुद्धं पिण्डमुपभुञ्जानस्य, गुणचरणमप्रशस्तं मिथ्यादृष्टीनां सम्यग्दृष्टीनामपि सनिदानं, प्रशस्तं तेषामेव कर्मोद्वेष्टनार्थं मूलोत्तरगुणकलापविषयम्, इह चानेनैवाधिकारो, यतो नवाप्यध्ययनानि मूलोत्तरगुणस्थापकानि

निर्जरार्थमनुशील्यन्ते ।। एतेषां चान्वर्थाभिधानानि दर्शयितुमाह-

सत्थपरिण्णा १ लोगविजओ २ य सीओसणिज्ज ३ सम्मत्तं ४ ।
तह लोगसारनामं ५ धुयं ६ तह महापरिण्णा ७ य ।।३१।।
अट्ठमए य विमोक्खो ८ उवहाणसुयं ९ च नवमगं भणियं ।
इच्चेसो आयारो आयारग्गाणि सेसाणि ।।३२।।

स्पष्टे, केवलमित्येष नवाध्ययनरूप आचारो, द्वितीयश्रुतस्कन्धाध्ययनानि तु शेषाणि-आचाराग्राणीति ।। साम्प्रतमुपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा-अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राद्यमाह-

जिअसंजमो १ अ लोगो जह बज्झइ जह य तं पजहियव्वं २ ।
सुहदुक्खतितिक्खाविय ३ सम्मत्तं ४ लोगसारो ५ य ।।३३।।
निस्संगया ६ य छट्ठे मोहसमुत्था परीसहुवसग्गा ७ ।
निज्जाणं ८ अट्ठमए नवमे य जिणेण एवं ति ९ ।।३४।।

तत्र शस्त्रपरिज्ञायामयमर्थाधिकारो- 'जियसंजमो'त्ति जीवेषु संयमो जीवसंयमः-तेषु हिंसादिपरिहारः, स च जीवास्तित्वपरिज्ञाने सति भवत्यतो जीवास्तित्वविरतिप्रतिपादनमत्रार्थाधिकारः । लोकविजये तु 'लोगो जह बज्झइ जह य तं पजहियव्व'ति, विजितभावलोकेन (उदइओ भावो लोगा कसाया जाणियव्वा (इति चूर्णिः) संयमस्थितेन लोको यथा बध्यते अष्टविधेन कर्मणा यथा च तत्प्रहातव्यं तथा ज्ञातव्यमित्ययमर्थाधिकारः । तृतीये त्वयम्-संयमस्थितेन जितकषायेणानुकूलप्रतिकूलोपसर्गनिपाते सुखदुःखतितिक्षा विधेयेति । चतुर्थे त्वयम्-प्राक्तनाध्ययनार्थसंपन्नेन तापसादिकष्टतपःसेविनामष्टगुणैश्वर्यमुद्वीक्ष्यापि दृढसम्यक्त्वेन भवितव्यमिति । पञ्चमे त्वयम्-चतुरध्ययनार्थ-स्थितेनासारपरित्यागेन लोकसाररत्नत्रयोद्युक्तेन भाव्यमिति । षष्ठे त्वयम्-प्रागुक्तगुणयुक्तेन निसङ्गतायुक्तेनाप्रतिबद्धेन भवितव्यम् । सप्तमे त्वयम्-संयमादिगुणयुक्तस्य कदाचिन्मोहसमुत्थाः परिषहा उपसर्गा वा प्रादुर्भवेयुस्ते सम्यक् सोढव्याः । अष्टमे त्वयम्-निर्याणम्-अन्तक्रिया सा सर्वगुणयुक्तेन सम्यग्विधेयेति ।

नवमे त्वयम्–अष्टाध्ययनप्रतिपादितोऽर्थः सम्यगेवं वर्द्धमानस्वामिना विहित इति, तत्प्रदर्शनं च शेषसाधूनामुत्साहार्थं,

तदुक्तम्- 'तित्थयरो चउणाणी सुरमहिओ सिज्झियव्वाधुवंमि । अणिगूहियबलविरिओ सव्वत्थामेसु उज्जमइ ।।१।। किं पुर अवसेसेहिं दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं । होइ न उज्जमियव्वं सपच्च वायंमि माणुस्से ।।२।।' (तीर्थंकरश्चतुर्ज्ञानी सुरमहितः ध्रुवं सेधितव्ये । अनिगूहितबलवीर्यः सर्वस्थाम्नोद्यच्छति ।।१।। किं पुनरवशेषैदुःख-क्षयकारणात्सुविहितैः । भवति नोद्यन्तव्यं सप्रत्यपाये मानुष्ये ।।२।।) ।। साम्प्रतमुद्देशार्थाधिकारः शस्त्रपरिज्ञाया अयम्–

जीवो छक्कायपरुवणया य तेसिं वह य बंधोत्ति ।
विरईए अहिगारो सत्थपरिण्णाए णायव्वो ।।३५।।

तत्र प्रथमोद्देशके सामान्येन जीवास्तित्वं प्रतिपाद्यं, शेषेषु तु षट्सु विशेषेण पृथिवीकायाद्यस्तित्वमिति, सर्वेषां चावसाने बन्धविरति-प्रतिपादनमिति, एतच्चान्ते उपात्तत्वात्प्रत्येकमुद्देशार्थेषु योजनीयं, प्रथमोद्देशके जीवस्तद्वधे बन्धो विरतिश्चेत्येवमिति ।। तत्र शस्त्रपरिज्ञेति द्विपदं नाम, शस्त्रस्य निक्षेपमाह–

दव्वं सत्थग्गिविसन्नेहंबिलखारलोणमाईयं ।
भावो य दुप्पउत्तो वाया काओ अविरई य ।।३६।।

शस्त्रस्य निक्षेपो नामादिश्चतुर्द्धा, व्यतिरिक्तं द्रव्यशस्त्रं खड्गाद्यग्निविष–स्नेहाम्लक्षारलवणादिकं, भावशस्त्रं तु दुष्प्रयुक्तो भावः– अन्तःकरणं तथा वाक्कायावविरत्तिश्चेति, जीवोपघातकारित्वादितिभावः ।। परिज्ञापि चतुर्द्धेत्याह–

दव्वं जाणण पच्चक्खाणे दविए सरीर उवगरणे ।
भावपरिण्णा जाणण पच्चक्खाणं च भावेणं ।।३७।।

तत्र द्रव्यपरिज्ञा द्विधा–ज्ञपरिज्ञा प्रत्याख्यानपरिज्ञा च, ज्ञपरिज्ञा आगमनोआगमभेदाद्द्विधा, आगमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तः, नोआगमतस्त्रिधा,

तत्र व्यतिरिक्ता द्रव्यपरिज्ञा यो यत् द्रव्यं जानीते सचित्तादि सा परिच्छेद्यद्रव्यप्राधान्यात् द्रव्यपरिज्ञेति, प्रत्याख्यानपरिज्ञाऽप्येवमेव, तत्र व्यतिरिक्तद्रव्यप्रत्याख्यानपरिज्ञा देहोपकरणपरिज्ञानम्, उपकरण च रजोहरणादि, साधकतमत्वात्, भावपरिज्ञापि द्विधैव-ज्ञपरिज्ञा प्रत्याख्यानपरिज्ञा च, तत्रागमतो ज्ञातोपयुक्तश्च, नोआगमत-स्त्विदमेवाध्ययनं ज्ञानक्रियारूपं, नोशब्दस्य मिश्रवाचित्वात्, प्रत्याख्यानभाव-परिज्ञापि तथैव, आगमतः पूर्ववत्, नोआगमतस्तु प्राणातिपातनिवृत्तिरूपा मनोवाक्कायकृतकारितानुमतिभेदात्मिका ज्ञेयेति । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतमाचारादिप्रदानस्य सुखप्रतिपत्तये दृष्टान्तोपन्यासेन विधिराख्यायते-यथा कश्चिद्राजा अभिनवनगरनिवेशेच्छया भूखण्डानि विभज्य समतया प्रकृतिभ्यो दत्तवान्, तथा कचवरापनयने शल्योद्धारे भूस्थिरीकरणे पक्वेष्टकापीठ-प्रासादरचने रत्नाद्युपादाने चोपदेशं दत्तवान्, ताश्च प्रकृतयस्तदुपदेशानुसारेण तथैव कृत्वा यथाऽभिप्रेतान् भोगान् बुभुजिरे, अयमत्रार्थोपनयः-राजसदृशेन सूरिणा प्रकृतिसदृश्य शिष्यगणस्य भूखण्डसदृशः संयमो मिथ्यात्व-कचवराद्यपनीय सर्वोपाधिशुद्धस्यारोपणीयः, तं च सामायिकसंयमं स्थिरीकृत्य पक्वेष्टिकापीठतुल्यानि व्रतान्यारोपणीयानि, ततः प्रासाद-कल्पोऽयमाचारो विधेयः, तत्रस्थश्चाशेषशास्त्रादिरत्नान्यादत्ते, निर्वाणभाक् भवति । साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणलक्षणोपेतं सूत्रमु-च्चारणीयं, लक्षणं त्विदम्-'अप्पगंथमहत्थं बत्तीसादोसविरहियं जं च । लक्खणजुत्तं सुत्तं अट्ठहि य गुणेहिं उववेयं ।।१।।' (अल्पग्रन्थं महार्थं द्वात्रिंशद्दोषविरहितं यच्च । लक्षणयुक्तं सूत्रमष्टभिश्च गुणैरुपपेतम् ।।१।।) **सुयं मे आउसं ! तेणं (आमुसंतेणं, आवसंतेणं) भगवया एवमक्खायं इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ ।।सू०१।।**' इत्यादि, तच्चेदं सूत्रम्- सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं इहमेगेसिं णो सण्णा भवति' अस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या-संहितोच्चारितैव, पदच्छेदस्त्वयम्-श्रुतं मया आयुष्मन ! तेन भगवता

एवमाख्यातम्-एह एकेषां नो संज्ञा भवति । एकं तिङन्तं शेषाणि सुबन्तानि, गतः सपदच्छेदः सूत्रानुगमः, साम्प्रतं सूत्रपदार्थः समुन्नीयते- भगवान् सुधर्म्मस्वामी जंबूनाम्न इदमाचष्टे यथा- 'श्रुतम्' (पत्तेयं पत्तेयं (गणहरा) सिस्सेहिं पज्जुवासिज्जमाणा एवं भणंति-सुयं मे० (इति चूर्णिः) आकर्णितमवगतमवधारितमितियावद्, अनेन स्वमनीषिकाव्युदासो, 'मये'ति साक्षान्न पुनः पारम्पर्येण 'आयुस्मन्नि'ति जात्यादिगुणसंभवेऽपि दीर्घायुष्कत्वगुणोपादानं दीर्घायुरविच्छेदेन शिष्योप-देशप्रदायको यथा स्यात्, इहाचारस्य व्याचिख्यासितत्वात्तदर्थस्य च तीर्थकृत्प्रणीतत्वादिति सामर्थ्यप्रापितं तेनेति तीर्थकरमाह, यदि वा- आमृशता भगवत्पादारविन्दम्, अनेन विनय आवेदितो भवति, आवसता वा तदन्तिके इत्यनेन गुरुकुलवासः कर्त्तव्य इत्या-वेदितं भवति, एतच्चा-र्थद्वयं 'आमुसंतेण आवसंतेणे'त्येतत्पाठान्तर-माश्रित्यावगन्तव्यमिति, 'भगवते'ति भगः ऐश्वर्यादिषडर्थात्मकः सोऽस्यास्तीति भगवान् तेन, 'एव'मिति वक्ष्यमाणविधिना 'आख्यात'मित्यनेन कृतकत्वव्युदासेना-र्थरूपतया आगमस्य नित्यत्वमाह, 'इहे'ति क्षेत्रे प्रवचने आचारे शस्त्र-परिज्ञायां वा आख्यातमितिसंबन्धो, यदि वा-'इहे'ति संसारे 'एकेषां' ज्ञानावर-णीयावृतानां प्राणिनां 'नो संज्ञा भवति' संज्ञानं संज्ञा स्मृतिरवबोध इत्यनर्थान्तरं, सा नो प्रजायत इत्यर्थः उक्तः पदार्थः, पदविग्रहस्य तु सामासिकपदाभावाद-प्रकटनम् । इदानीं चालनाननु चाकारादि-कप्रतिषेधकलघुशब्दसंभवे सति किमर्थं नोशब्देन प्रतिषेधः इति ?, अत्र प्रत्यवस्था, सत्यमेवं, किंतु प्रेक्षापूर्वकारितया नोशब्दोपादानं, सा चेयम्-अन्येन प्रतिषेधेन सर्वनिषेधः स्याद्, यथा न घटोऽघट इति चोक्ते सर्वात्मना घटनिषेधः, स च नेष्यते, यतः प्रज्ञापनायां दश संज्ञाः सर्वप्राणि-नामभिहितास्तासां सर्वासां प्रतिषेधः प्राप्नोतीतिकृत्वा, ताश्चेमाः-'कइ णं भंते ! सण्णाओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! दस सण्णाओ पण्णत्ताओ, तंजहा-आहारसण्णा भयसण्णा मेहुणसण्णा परिग्गहसण्णा कोहसण्णा

माणसण्णा मायासण्णा लोभसण्णा ओहसण्णा लोगसण्ण'त्ति (कति भदन्त ! संज्ञाः प्रज्ञप्ताः ?, गौतम ! दश संज्ञाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-आहारसंज्ञा भयसंज्ञा मैथुनसंज्ञा परिग्रहसंज्ञा क्रोधसंज्ञा मानसंज्ञा मायासंज्ञा लोभसंज्ञा ओघसंज्ञा लोकसंज्ञा ।) आसां च प्रतिषेधे स्पष्टो दोषः, अतो नोशब्देन प्रतिषेध-नमकारि, यतोऽयं सर्वनिषेधवाची देशनिषेधवाची च, तथाहि-नोघट इत्युक्ते तथा घटाभावमात्रं प्रतीयते, यथा प्रकरणादिप्रसक्तस्य विधानं, (0क्ते घटाभावमात्रं प्रतीयते अर्थप्र-सक्तनिषेधेन चाप्रसक्तस्य प्र.) स पुनर्विधीयमानः प्रतिषे-ध्यावयवो ग्रीवादिः प्रतिषेध्यादन्यो वा पटादिः प्रतीयत इति, तथा चोक्तम्- 'प्रतिषेधयति समस्तं प्रसक्तमर्थं च जगति नोशब्दः । स पुनस्तदवयवो वा तस्मादर्थान्तरं वा स्याद् ।।१।।' इति, एवमिहापि न सर्वसंज्ञानिषेधः, अपितु विशिष्ट-संज्ञानिषेधो, ययाऽऽत्मादिपदार्थस्वरूपं गत्यागत्यादिकं ज्ञायते तस्या निषेध इति ।। साम्प्रतं निर्युक्तिकृत्सूत्रावयवनिक्षेपार्थमाह-

दव्वे सच्चित्ताई भावेऽणुभवणजाणणा सण्णा ।
मति होइ जाणणा पुण अणुभवणा कम्मसंजुत्ता ।।३८।।

संज्ञा नामादिभेदाच्चतुर्द्धा, नामस्थापने क्षुण्णे, ज्ञशरीरभव्यशरीर-व्यतिरिक्ता सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्त्रिधा, सचित्तेन हस्तादिद्रव्येण पानभोजनादिसंज्ञा अचित्तेन ध्वजादिना मिश्रेण प्रदीपादिना संज्ञानं-संज्ञा अवगम इति-कृत्वा, भावसंज्ञा पुनर्द्विधा-अनुभवनसंज्ञा ज्ञानसंज्ञा च, तत्राल्पव्याख्येयत्वा-त्तावत् ज्ञानसंज्ञा दर्शयति- 'मइ होइ जाणणा पुण'त्ति मननं मतिः-अवबोधः सा च मतिज्ञानादिः पञ्चधा, तत्र केवलसंज्ञा क्षायिकी शेषास्तु क्षायोपशमिक्यः, अनुभवनसंज्ञा तु स्वकृत-कर्मोदयादिसमुत्था जन्तोर्जायते, सा च षोडशभेदेति दर्शयति-

आहार भय परिग्गह मेहुण सुख दुक्ख मोह वितिगिच्छा ।
कोह माण माय लोहे सोगे लोगे य धम्मोहे ।।३९।।

आहाराभिलाष आहारसंज्ञा, सा च तैजसशरीरनामकर्म्मोदया-

दसातोदयाच्च भवति, भयसंज्ञा त्रासरूपा, परिग्रहसंज्ञा मूर्छारूपा, मैथुनसंज्ञा स्त्र्यादिवेदोदयरूपा, एताश्च मोहनीयोदयात्, सुखदु:खसंज्ञे सातासातानु–भवरूपे वेदनीयोदयजे, मोहसंज्ञा मिथ्यादर्शनरूपा मोहोदयात्, विचिकित्सासंज्ञा चित्तविप्लुतिरूपा मोहोदयात् ज्ञानावरणीयोदयाच्च, क्रोधसंज्ञा अप्रीतिरूपा, मानसंज्ञा गर्वरूपा, मायासंज्ञा वक्रतारूपा, लोभसंज्ञा गृद्धिरूपा, शोकसंज्ञा विप्रलापवैमनस्यरूपा, एता मोहोदयजा:, लोकसंज्ञा स्वच्छन्दघटितविकल्परूपा लौकिकाचरिता, यथा–न सन्त्यन–पत्यस्य लोका:. श्वानो यक्षा:, विप्रा देवा:, काका: पितामहा:, बर्हिणां पक्षवातेन गर्भ इत्येवमादिका ज्ञानावरगयाल्पक्षयोपशमा–न्मोहोदयाच्च भवति, धर्म्मसंज्ञा क्षमाद्यासेवनरूपा मोहनीयक्षयोपशमा–ज्जायते, एताश्चाविशेषोपादानात्पञ्चेन्द्रियाणां सम्यग्मिथ्यादृशां द्रष्टव्या:, ओघसंज्ञा तु अव्यक्तोपयोगरूपा वल्लिवितानारोहणादिलिङ्गा ज्ञानावरणीया–ल्पक्षयोपशमसमुत्था द्रष्टव्येति । इह पुनर्ज्ञानसंज्ञयाऽधिकारो, यत: सूत्रे सैव निषिद्धा 'इह एकेषां नो संज्ञा ज्ञानम्–अवबोधो भवती'ति ।।१।।

प्रतिषिद्धज्ञानविशेषावगमार्थमाह सूत्रम्–

तंजहा–पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं णो णायं भवति ।।सू. २।।

'तंजहेत्यादि णो णायं भवतीति यावत्' तद्यथेति प्रतिज्ञाता–र्थोदाहरणं, 'पुरत्थिमाउ'त्ति प्राकृतशैल्या मागधदेशीभाषानुवृत्त्या पूर्वस्या दिशोऽभिधायकात् पुरत्थिमशब्दापञ्चम्यन्तात्तसा निर्देश:, वाशब्द उत्तर–पक्षापेक्षया विकल्पार्थ:, यथा लोके भोक्तव्यं वा शयितव्यं वेति, एवं पूर्वस्या वा दक्षिणस्या वेति । दिशतीति दिक्, अतिसृजति व्यपदिशति

द्रव्यं द्रव्यभागं वेति भावः ।। तां निर्युक्तिकृन्निक्षेप्तुमाह-

नामं ठवणा दविए खित्ते तावे य पण्णवग भावे ।
एस दिसानिक्खेवो सत्तविहो होइ णायव्वो ।।४०।।

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रतापप्रज्ञापकभावरूपः सप्तधा दिग्निक्षेपो ज्ञातव्यः, तत्र सचित्तादेर्द्रव्यस्य दिगित्यभिधानं नामदिक्, चित्रलिखित-जम्बूद्वीपादेर्दिग्विभागस्थापन स्थापनादिक् । द्रव्यदिग्निक्षेपार्थमाह-

तेरसपएसियं खलु तावइएसुं भवे पएसेसुं ।
जं दव्वं ओगाढं जहण्णय तं दसदिसाग ।।४१।।

द्रव्यदिग् द्वेधा-आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तो, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता त्वियम्-त्रयोदशप्रदेशिकं द्रव्यमाश्रित्य या प्रवृत्ता, खलुरवधारणे, त्रयोदशप्रादेशिकमेव दिक्, न पुनर्दशप्रादेशिकं यत् कैश्चिदुक्तमिति, प्रदेशाः-परमाणवस्तैर्निष्पादितं कार्य-द्रव्यं तावत्स्वेव क्षेत्रप्रदेशे-ष्ववगाढं जघन्यं द्रव्यमाश्रित्य दशदिग्विभाग-परिकल्पनातो द्रव्यदिगियमिति । तत्स्थापना (२) त्रिबाहुकं नवप्रदेशि-कमभिलिख्य चतसृषु दिक्ष्वेकैकगृहवृद्धिः कार्या ।। क्षेत्रदिशमाह-

अट्ठ पएसो रुयगो तिरियं लोयस्स मज्झयारंमि ।
एस पभवो दिसाणं एसेव भवे अणुदिसाणं ।।४२।।

तिर्यग्लोकमध्ये रत्नप्रभापृथिव्या उपरि बहुमध्यदेशे मेर्व्वन्तर्द्वौ सर्व्वक्षुल्लकप्रतरौ तयोरुपरितनस्य चत्वारः प्रदेशा गोस्तनाकारसंस्थाना अधस्तनस्यापि चत्वारस्तथाभूता एवेत्येषोऽष्टाकाशप्रदेशात्मकश्चतुरस्रो रुचको दिशामनुदिशां च प्रभव-उत्पत्तिस्थानमिति । स्थापना चेयं (३) आसामभिधानान्याह-

इंदग्गेई जम्मा य नेरुती वारुणी य वायव्वा ।
सोमा ईसाणावि य विमला य तमा य बोद्धव्वा ।।४३।।

आसामाद्यैन्द्री विजयद्वारानुसारेण शेषाः प्रदक्षिणतः सप्तावसेयाः,

ऊर्ध्वं विमला तम चाधः बोद्धव्या इति, स्थापना चेय ।। आसामेव स्वरूपनिरूपणा-याह-

दुपएसाइ दुरुत्तर एगपएसा अणुत्तरा चेव ।
चउरो चउरो य दिसा चउराइ अणुत्तरा दुण्णि ।।४४।।

चतस्रो महादिशो द्विप्रदेशाद्या द्विद्विप्रदेशोत्तरवृद्धाः, विदिशश्चतस्र एकप्रदेशरचनात्मिकाः 'अनुत्तरा' वृद्धिरहिताः, ऊर्द्ध्वाधोदिग्द्वयं त्वनुत्तरमेव चतुष्प्रदेशादिरचनात्मकम् ।। किञ्च-

अंतो साईआओ बाहिरपासे अपज्जवसिआओ ।
सव्वाणंतपएसा सव्वा य भवंति कडजुम्मा ।।४५।।

सर्वाऽप्यन्तः-मध्ये सादिका रुचकाद्या इतिकृत्वा बहिश्च अलोकाकाशाश्रयणादपर्यवसिताः, 'सर्वाश्च' दशाप्यनन्तप्रदेशात्मिका भवन्ति, 'सव्वा य हवंति कडजुम्म'त्ति सर्वासां दिशां प्रत्येकं ये प्रदेशास्ते चतुष्ककेनापह्रियमाणाश्चतुष्कावशेषा भवन्तीतिकृत्वा, तत्प्रदेशात्मिकाश्च दिश आगमसंज्ञया कडजुम्मत्तिशब्देनाभिधीयन्ते, तथा चागमः- **'कई णं भंते ! जुम्मा पण्णत्ता ?, गोयमा ! चत्तारि जुम्मा पण्णत्ता, तंजहा-कडजुम्मे तेउए दावरजुम्मे कलिओए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चई ? गोयमा ! जे णं रासी चउक्कगावहारेणं अवहीरमाणे अवहीरमाणे चउपज्जवसिए सिया, से णं कडजुम्मे, एवं तिपज्जवसिए तेउए, दुपज्जव-सिए दावरजुम्मे, एग पज्जवसिए कलिओए'त्ति** ।। (कइ भदन्त ! युग्माः प्रज्ञप्ताः ?, गौतम ! चत्वारो युग्माः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-कृतयुग्मः त्र्योजः द्वापर-युग्मः कल्योजः । अथ केनार्थेन भदन्तैवमुच्यते ?, गौतम ! यौराशिश्चतुष्ककापहारेणापह्रिय-माणोऽपह्रियमाणश्चतुष्पर्यवसितः स्यात् स कृतयुग्मः, एवं त्रिपर्यव-सितस्त्र्योजः द्विपर्यवसितो द्वापर युग्मः, एकपर्यवसितः कल्योजः ।) पुनरप्यासां संस्थानमाह-

सगडुद्धीसंठिआओ महादिसाओ हवंति चत्तारि ।

मुत्तावली य चउरो दो चेव हवंति रुयगनिभा ।।४६।।

महादिशश्चतस्रोऽपि शकटोर्द्धिसंस्थानाः, विदिशश्च मुक्तावलिनिभाः, ऊद्ध्र्वाधोदिग्द्वयं रुचकाकारमिति ।। तापदिशमाह-

जस्स जओ आइच्चो उदेइ सा तस्स होइ पुव्वदिसा ।
जत्तो अ अत्थमेइ उ अवरदिसा सा उ णायव्वा ।।४७।।
दाहिणपासंमि य दाहिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं ।
एया चत्तारि दिसा तावखित्ते उ अक्खाया ।।४८।।

तापयतीति ताप-आदित्यः, तदाश्रिता दिक् तापदिक् शेषं सुगमं, केवलं दक्षिणपार्श्वादिव्यपदेशः पूर्वाभिमुखस्येति द्रष्टव्यः ।। तापदिगङ्गीकरणेनान्योऽपि व्यपदेशो भवतीति प्रसङ्गत आह-

जे मंदरस्स पुव्वेण मणुस्सा दाहिणेण अवरेण ।
जे आवि उत्तरेणं सव्वेसिं उत्तरो मेरू ।।४९।।
सव्वेसिं उत्तरेणं मेरू लवणो य होइ दाहिणओ ।
पुव्वेणं उट्ठेई अवरेणं अत्थमइ सूरो ।।५०।।

ये 'मन्दरस्य' मेरोः पुर्व्वेण मनुष्याः क्षेत्रदिगङ्गीकरणेन, रुचकापेक्षं पूर्वादिदिक्त्वं वेदितव्यं, तेषामुत्तरो मेरुर्दक्षिणेन लवण इति तापदिगङ्गीकरणेन शेषं स्पष्टम् ।। प्रज्ञापकदिशिमाह-

जत्थ य जो पण्णवओ कस्सवि साहइ दिसासु य णिमित्तं ।
जत्तोमुहो य ठाई सा पुव्वा पच्छओ अवरा ।।५१।।

प्रज्ञापको यत्र क्वचित् स्थितः दिशां बलात्कस्यचिन्निमित्तं कथयति स यदभिमुखस्तिष्ठति सा पूर्वा, पृष्ठतश्चापरेति, निमित्तकथनं चोपलक्षणमन्योऽपि व्याख्याता ग्राह्य इति ।। शेषदिक्साधनार्थमाह-

दाहिणपासंमि उ दाहिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं ।
एयासिमन्तरेणं अण्णा चत्तारि विदिसाओ ।।५२।।
एयासिं चेव अट्ठण्हमंतरा अट्ठ हुंति अण्णाओ ।
सोलस सरीरउस्सयबाहल्ला सव्वतिरियदिसा ।।५३।।

हेट्ठा पायतलाणं अहोदिसा सीसउवरिमा उड्ढा ।
एया अट्ठारसवो पण्णवगदिसा मुणेयव्वा ॥५४॥
एवं पकप्पिआणं दसण्ह अट्ठण्ह चेव य दिसाणं ।
नामाइं वुच्छामो जहक्कमं आणुपुव्वीए ॥५५॥
पुव्वा य पुव्वदक्खिण दक्खिण तह दक्खिणावरा चेव ।
अवरा य अवरउत्तर उत्तर पुव्वुत्तरा चेव ॥५६॥
सामुत्थाणो कविला खेलिज्जा खलु तहेव अहिधम्मा ।
परियाधम्मा य तहा सावित्ती पण्णवित्ती य ॥५७॥
हेट्ठा नेरइयाणं अहोदिसा उवरिमा उ देवाणं ।
एयाइं नामाइं पण्णवगस्सा दिसाणं तु ॥५८॥

एताः सप्त गाथाः कण्ठ्याः, नवरं द्वितीयगाथायां सर्व्वतिर्यग्दिशां बाहल्यं-पिण्डः शरीरोच्छ्रयप्रमाणमिति ॥ साम्प्रतमासां संस्थानमाह-

सोलसवी तिरियदिसा सगडुद्धीसंठिया मुण्णेयव्वा ।
दो मल्लगमूलाओ उड्ढे अ अहेवि य दिसाओ ॥५९॥

षोडशापि तिर्यग्दिशः शकटोर्द्धिसंस्थाना बोद्धव्याः, प्रज्ञापकप्रदेशे सङ्कटा बहिर्विशालाः, नारकदेवाख्ये द्वे एव उद्र्ध्वाधोगामिन्यौ शरावाकारे भवतः, यतः शिरोमूले पादमूले च स्वल्पत्वान्मल्लकबुध्नाकारे गच्छन्त्यौ च विशाले भवत इति ॥ आसां सर्वासां तात्पर्य्यं यन्त्रकादवसेयं, तच्चेदम् (४) भावदिग्निरूपणार्थमाह-

मणुया तिरिया काया तहऽग्गबीया चउक्कगा चउरो ।
देवा नेरइया वा अट्ठारस होंति भावदिसा ॥६०॥

मनुष्याश्चतुर्भेदास्तद्यथा-सम्मूर्च्छनजाः कर्मभूमिजा अकर्म्मभूमिजाः अन्तरद्वीपजाश्चेति, तश तिर्यञ्चो द्वीन्द्रिया स्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेति चतुर्द्धा, कायाः पृथिव्यप्तेजोवायश्चत्वारः, तथाऽग्र(१)मूल (२) स्कन्ध (३) पर्व (४) बीजाश्चत्वार एव, एते षोडश देवनारकप्रक्षेपादष्टादश, एभिर्भावैर्भ-वनाज्जीवो व्यपदिश्यत इति भावदि-

गष्टादशभेदेति ॥ अत्र च सामान्यदिग्ग्रहणेऽपि यस्यां दिशि जीवाना-मविगानेन गत्यागती स्पष्टे सर्वत्र सम्भवतस्तयैवेहाधिकार इति तामेव नियुक्तिकृत्साक्षाद्दर्शयति, भावदिक्चाविनाभाविनी सामर्थ्यदधिकृतैव, यतस्तदर्थमन्या दिशश्चिन्त्यन्त इत्यत आह-

पण्णवगदिसट्ठारस भावदिसाओऽवि तत्तिया चेव ।
इक्किक्कं विंधेज्जा हवंति अट्ठारसऽट्ठारा ॥६१॥
पण्णवगदिसाए पुण अहिगारो एत्थ होइ णायव्वो ।
जीवाण पुग्गलाण य एयासु गयागई अत्थि ॥६२॥

प्रज्ञापकापेक्षया अष्टादशभेदा दिशः, अत्र च भावदिशोऽपि तावत्प्रमाणा एवं प्रत्येकं सम्भवन्तीत्यतः एकैकां प्रज्ञापकदिशं भावदिगष्टादशकेन 'विन्ध्येत्' ताडयेद्, अतोऽष्टादशाष्टादशकाः ते च संख्यया त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि भवन्तीति, एतच्चोपलक्षणं तापदिगादावपि यथासम्भवमायोजनीयमिति । क्षेत्रदिशि तु चतसृष्वेव महादिक्षु सम्भवो न विदिगादिषु, तासामेकप्रदेशिकत्वाच्चतुष्प्रदेशि-कत्वाच्चेति गाथाद्वयार्थः । अयं दिक्संयोग-कलापः 'अण्णयरीओ दिसाओ आगओ अहमंसी'त्यनेन परिगृहीतः, सूत्रावयवार्थश्चायम् -इह दिग्ग्रहणात् प्रज्ञापकदिशश्चतस्रः पूर्वादिका ऊद्ध्वधोदिशौ च परिगह्यन्ते, भावदिशस्त्वष्टादशापि, अनुदिग्ग्रहणात्तु प्रज्ञापकविदिशो द्वादशेति, तत्रासंज्ञिनां नैषोऽवबोधोऽस्ति, संज्ञिनामपि केषाञ्चिद्भवति केषाञ्चिन्नेति, यथाऽहममुष्या दिशः समागत इहेति । 'एवमेगेसिं णो णायं भवइत्ति' 'एव' मित्यनेन प्रकारेण, प्रतिविशिष्टदिग्विदिगागमनं नैकेषां विदितं भवतीत्येतदुपसंहारवाक्यम्, (औपपातिकवृत्त्यभिप्रायेणैष तृतीयसूत्रावत-रणभागः, चूर्ण्यभिप्रायेण तु 'भविस्सामि' इति पर्यन्त उपसंहारः, 'भवति' इति 'तंजहा' सति चाधिकम् ।) एतेदेव निर्युक्तिकृदाह-

केसिंचि नाणसण्णा अत्थि केसिंचि नत्थि जीवाणं ।
कोहं परंमि लोए आसी कयरा दिसाओ वा ? ॥६३॥

केषाञ्चिज्जीवानां ज्ञानावरणीयक्षयोपशमवतां ज्ञानसंज्ञाऽस्ति, केषाञ्चित्तु तदावृतिमतां न भवतीति । यादृग्भूता संज्ञा न भवति तां दर्शयति-कोऽहं परस्मिन् 'लोके' जन्मनि मनुष्यादिरासम्, अनेन भावदिग् गृहीता, कतरस्या वा दिशः समायात इत्यनेन तु प्रज्ञापकदिगुपात्तेति, यथा कश्चिन्मदिरामदाघूर्णितलोललोचनोऽव्यक्तमनोविज्ञानो रथ्यामार्ग-निपतितस्तच्छर्द्याकृष्टश्वगणासलिह्यमानवदनो गृहमानीतो मदात्यये न जानाति कुतोऽहमागत इति, तथा प्रकृतो मनुष्यादिरपीत्ति गाथार्थः । न केवलमषैव संज्ञा नास्ति अपराऽपि नास्तीति सूत्रकृदाह-

अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी ? के वा इओ चुए इह पेच्चा भविस्सामि ? ।।सू०३।।

'अस्ति' विद्यते 'ममे'त्यनेन षष्ठ्यन्तेन शरीरं निर्दिशति, ममास्य शरीरकस्याधिष्ठाता, अतति-गच्छति सततगति-प्रवृत्त आत्मा-जीवोऽस्तीति, किंभूतः ?-'औपपातिकः' उपपात-प्रादुर्भावो जन्मान्तरसंक्रान्तिः, उपपाते भव औपपातिक इति, अनेन संसारिणः स्वरूपं दर्शयति, स एवंभूत आत्मा ममास्ति नास्तीति च एवंभूता संज्ञा केषाञ्चिदज्ञानावष्टब्धचेतसां न जायत इति । तथा 'कोऽहं' नारक-तिर्यग्मनुष्यादिः पूर्व्वजन्मन्यासं ? को वा देवादिः 'इतो' मनुष्यादेर्जन्मन 'च्युतो' विनष्टः 'इह' संसारे 'प्रेत्य' जन्मान्तरे 'भविष्यामि' उत्पत्स्ये इति, एषा च संज्ञा न भवतीति ।। इह च यद्यपि सर्वत्र भावदिशाऽधिकारः प्रज्ञापकदिशा च, तथापि पूर्वसूत्रे साक्षात्प्रज्ञापकदिगुपात्ताऽत्र तु भावदिगित्यवगन्तव्यम् । ननु चात्र संसारिणां दिग्विदिगागमनादिजा विशिष्टा संज्ञा निषिध्यते न सामान्यसंज्ञेति, एतच्च संज्ञिनि धर्म्मिण्यात्मनि सिद्धे सति भवति, 'सति धर्म्मिणि धर्म्माश्चिन्त्यन्त', इति वचनात्, स च प्रत्यक्षादिप्रमाण-गोचरातीतत्वाद्दुरुपपादः, तथाहि-नासावध्य-क्षेणार्थसाक्षात्कारिणा विषयीक्रियते, तस्यातीन्द्रियत्वाद् अतीन्द्रियत्वं च स्वभावविप्रकृष्टत्वाद्, अतीन्द्रियत्वादेव च तदव्यभिचा-

रिकार्यादिलिङ्गसम्बन्धग्रहणासम्भवात् नाप्युमानेन, ...प्याप्रत्यक्षत्वे तत्सामान्यग्रहणशक्त्यनुपपत्तेः नाप्युपमानेन, आगम...पे विवक्षायां प्रतिपाद्यमानायामनुमानान्तर्भावाद् अन्यत्र च बाह्येऽर्थे सम्बन्धाभा-वादप्रमाणत्वं, प्रमाणत्वे वा परस्परविरोधित्वान्नाप्यागमेन, तमन्तरेणापि सकलार्थोपपत्तेर्नाप्यर्थापत्त्या, तदेवं प्रमाणपञ्चकातीतत्वात्षष्ठप्रमाणविषय-त्वादभाव एवात्मनः । प्रयोगश्चायम्-नास्त्यात्मा, प्रमाणपञ्चक-विषयातीतत्वात्, खरविषाणवदिति, तदभावे च विशिष्टसंज्ञा-प्रतिषेधाभावसम्भवेनानुत्थानमेव सूत्रस्येति, एतत्सर्वमनुपासितगुरोर्वचः, तथाहि-प्रत्यक्ष एवात्मा, तद्गुणस्य ज्ञानस्य स्वसंवित्तिसिद्धत्वात्, स्वसं-न्निष्ठाश्च विषयव्यवस्थितयो, घटपटादीनामपि रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वा-देवाध्यक्षत्वमिति, मरणाभावप्रसङ्गाच्च न भूतगुणश्चैतन्यमाशङ्कनीयं, तेषां सदा सन्निधानसम्वादिति, हेयोपादेय-परिहारोपादान-प्रवृत्तेश्चानुमानेन परात्मनि सिद्धिर्भवतीति, एवमनयैव दिशोपमानादिकमपि स्वधिया स्व-विषये यथासम्भवमायोज्यं, केवलं मौनीन्द्रेणानेनैवागमेन विशिष्टसंज्ञा-निषेधद्वारेणाहमिति चात्मोल्लेखेनात्मसद्भावः प्रतिपादितः, शेषागमानां चानाप्तप्रणीतत्वादप्रमाण्यमेवेति । अत्र चास्त्यात्मेत्यनेन क्रियावादिनः सप्रभेदा नास्तीत्यनेन चाक्रियावादिन एतदन्तःपातित्वा चाज्ञानिक-वैनयिकाश्च सप्रभेदा उपक्षिप्ताः, ते चामी-'असियसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई । अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसा ॥१॥' तत्र जीवाजीवाश्रवबन्धपुण्यपापसंवरनिर्जरामोक्षाख्या नव पदार्थाः स्वपरभेदाभ्यां नित्यानित्यविकल्पद्वयेन च कालनियतिस्वभावे-श्वरात्माश्रयणादशीत्युत्तरं भेदशतं भवति क्रियावादिनाम्, एते चास्तित्ववादिनोऽभिधीयन्ते, इयमत्र भावना- अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः १। अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालतः २ अस्ति जीवः परतो नित्यः कालतः ३ अस्ति जीवः परतोऽनित्यः कालतः ४ इत्येवं कालेन चत्वारो भेदा लब्धाः, एवं नियतिस्वभावेश्वरात्मभिरप्येकैकेन

चत्वारश्चत्वारो विकल्पा लभ्यन्ते, एते च पञ्च चतुष्कका विंशतिर्भवति, इयं च जीवपदार्थेन लब्धा, एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिभेदा भवन्ति, ततश्च नव विंशतयः शतमशीत्युत्तरं भवति १८०। तत्र स्वत इति स्वेनैव रूपेण जीवोऽस्ति, न परोपाध्यपेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वे इव, नित्यः-शाश्वतो न क्षणिकः, पूर्वोत्तरकालयोरवस्थितत्वात्, कालत इति काल एव विश्वस्य स्थित्युत्पत्तिप्रलयकारणम्, उक्तं च-'कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥१॥' स चातीन्द्रियो युगपच्चिरक्षिप्रक्रियाभिव्यङ्ग्यो हिमोष्णवर्षाव्यवस्थाहेतुः क्षणलवमुहूर्त्त-यामाहोरात्रपक्षमासर्तु अयन-संवत्सरयुगकल्पपल्योपमसागरोपमोत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिणी-पुद्गलपरावर्त्ता-तीतानागतवर्त्तमानसर्वाद्धादिव्यवहाररूपः १। द्वितीयविकल्पे तु कालादे-वात्मनोऽस्तित्वमभ्युपेयं, किं त्वनित्योऽसाविति विशेषोऽयं पूर्वविकल्पात् २। तृतीयविकल्पे तु परत एवास्तित्वमभ्युपगम्यते, कथं पुनः परतो-ऽस्तित्वमात्मनोऽभ्युपेयते ?, नन्वेतत्प्रसिद्धमेव सर्वपदार्थानां परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदो, यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्व-परिछेदो ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्येति, एवमेव चानात्मनः स्तम्भकु-म्भादीन् समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्ते वस्तुन्यात्मबुद्धिः प्रवर्त्तत इति, अतो यदात्मनः स्वरूपं तत्परत एवावधार्य्यते न स्वत इति ३। चतुर्थविकल्पोऽपि प्राग्वदिति चत्वारो विकल्पाः ४ । तथाऽन्ये नियतित एवात्मनः स्वरूपमव-धारयन्ति, का पुनरियं नियतिरिति, उच्यते, पदार्थानामवश्यंतया यद्यथा-भवने प्रयोजककर्त्री नियतिः, उक्तं च-'प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा । भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥१॥' इयं च मस्करिपरि-व्राण्मतानुसारिणी प्राय इति । अपरे पुनः स्वभावादेव संसारव्यय-स्थामभ्युपयन्ति, कः पुनरयं स्वभावः ?, वस्तुनः स्वत एव तथापरिण-तिभावः स्वभावः, उक्तं च- 'कः कण्टकानां प्रकरोति

तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च । स्वभावतः सर्व्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ? ।।१ ।। स्वभावतः प्रवृत्तानां, निवृत्तानां स्वभावतः । नाहं कर्त्तेति भूतानां, यः पश्यति स पश्यति ।।२ ।। केनाञ्जितानि नयनानि मृगाङ्गनानां, कोऽलङ्करोति रुचिराङ्गरुहान्मयूरान् । कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति, को वा करोति (दधाति) विनयं कुलजेषु पुंस्सु ?।।३ ।।' तथाऽन्येऽभिदधते-समस्तमेतज्जीवादीश्वरात्प्रसूतं, तस्मादेव स्वरूपेऽ-वतिष्ठते, कः पुनरयमीश्वरः ?, अणिमाद्यैश्वर्ययोगादीश्वरः, उक्तं च-'अज्ञो(न्यो) जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छे-च्छ्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा ।।१ ।।' तथा अन्ये ब्रुवते न जीवादयः पदार्थाः कालादिभ्यः स्वरूपं प्रतिपद्यन्ते, किं तर्हि ?, आत्मनः, कः पुनरयमात्मा १, आत्माद्वैतवादिनां विश्वपरिणतिरूपः आत्मायत उक्तश्च-'एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ।।१ ।।' तथा-'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्य'मित्यादि । एवमस्त्यजीवः, स्वतः नित्यः कालत इत्येवं सर्वत्र योज्यम् ।।

तथा अक्रियावादिनो-नास्तित्ववादिनः, तेषामपि जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाख्याः सप्त पदार्थाः स्वपरभेदद्वयेन तथा कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मभिः षड्भिश्चिन्त्यमानाश्चतुरशीतिविकल्पा भवन्ति, तद्यथा-नास्ति जीवाः स्वतः कालतः नास्ति जीवः परतः कालत इति कालेन द्वौ लब्धौ, एवं यदृच्छानियत्यादिष्वपि द्वौ द्वौ भेदौ प्रत्येकं भवतः, सर्वेऽपि जीवपदार्थे द्वादश भवन्ति, एवमजीवादिष्वपि प्रत्येकं द्वादशैते, सप्त द्वादशका-श्चतुरशीतिरिति ८४ । अयमत्रार्थः-नास्ति जीवः स्वतः कालत इति, इह पदार्थानां लक्षणेन सत्ता निश्चीयते कार्यतो वा ?, न चात्मनस्तादृगस्ति किञ्चिल्लक्षणं येन सत्तां प्रतिपद्येमहि, नापि कार्य्यमणूनामिव महीध्रादि सम्भवति,यच्च लक्षण-कार्याभ्यां नाभि-गम्यते वस्तु तन्नास्त्येव, वियदिन्दीवरवत्,

तस्मान्नास्त्यात्मेति । द्वितीयविकल्पोऽपि यच्च स्वतो नात्मानं बिभर्ति गगनारविन्दादिकं तत्परतोऽपि नास्त्येव, अथवा सर्वपदार्थानामेव परभागादर्शनात्सर्वार्वाग्भागसूक्ष्मत्वाच्चोभयानुपलब्धेः सर्वानुपलब्धितो नास्तित्वमध्यवसीयते, उक्तं च 'यावद् दृश्यं परस्तावद्भागः स च न दृश्यते' इत्यादि, तथा यदृच्छातोऽपि नास्तित्वमात्मनः, का पुनर्यदृच्छा ?, अनभिसन्धिपूर्विकाऽर्थप्राप्तिर्यदृच्छा, 'अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातम् । काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः ॥१॥ सत्यं पिशाचाः स्म वने वसामो, भेरिं कराग्रैरपि न स्पृशामः । यदृच्छया सिद्ध्यति लोकयात्रा, भेरीं पिशाचाः परिताडयन्ते ॥२॥' यथा काकतालीयमबुद्धिपूर्वकं, न काकस्य बुद्धिरस्तिमयि तालं पतिष्यति, नापि तालस्याभिप्रायः-काकोपरि पतिष्यामि, अथ च तत्तथैव भवति, एवमन्यदप्यतर्कितोपनतमजाकृपाणीयमातुरभेषजीयमन्धकण्टकीयमित्यादि द्रष्टव्यम्, एवं सर्वं जातिजरामरणादिकं लोके यादृच्छिकं काकतालीयादिकल्पमवसेयमिति । एवं नियतिस्वभावेश्वरात्मभिरप्यात्मा निराकर्त्तव्यः ॥

तथाऽज्ञानिकानां सप्तषष्टिर्भेदाः, ते चामी-जीवादयो नव पदार्था उत्पत्तिश्च दशमी सत् असद् सदसत् अवक्तव्यः सदवक्तव्यः असदवक्तव्यः सदसदवक्तव्यः इत्येतैः सप्तभिः प्रकारैर्विज्ञातुं न शक्यन्ते न च विज्ञातैः प्रयोजनमस्ति. भावना चेयम्-सन् जीव इति को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ?, असन् जीव इति को जानाति ? किं वा तेन ज्ञातेनेत्यादि, एवमजीवादिष्वपि प्रत्येकं सप्त विकल्पाः, नव सप्तकास्त्रिषष्टिः, अमी चान्ये चत्वारस्त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, तद्यथा-सती भावोत्पत्तिरिति को जानाति ? किं वाऽन्या ज्ञातया ? एवमसती सदसती अवक्तव्या भावोत्पत्तिरिति को वेत्ति ? किं वाऽनया ज्ञातयेति, शेषविकल्पत्रयमुत्पत्त्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्र न सम्भवतीति नोक्तम्,

एतच्चतुष्टयप्रक्षेपात्सप्तषष्टिर्भवति । तत्र सन् जीव इति को वेत्ति ? इत्यस्यायमर्थः- न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति योऽतीन्द्रियान् जीवादी-नवभोत्स्यते, न च तैर्ज्ञातैः किञ्चित्फलमस्ति, तथाहि-यदि नित्यः सर्वगतोऽमूर्त्तो ज्ञानादिगुणोपेत एतद्गुण-व्यतिरिक्तो वा ? ततः कतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति, तस्मादज्ञानमेव श्रेयः । अपि च-तुल्येऽप्यपराधे अकामकरणे लोके स्वल्पो दोषो, लोकोत्तरेऽपि आकुट्टिकानाभोगस-हसाकारादिषु क्षुल्लकभिक्षुस्थविरोपाध्यायसूरीणां यथाक्रममुत्तरोत्तरं प्रायश्चित्तमित्येवमन्येष्वपि विकल्पेष्वायोज्यम् ।। तथा वैनयिकानां द्वात्रिंशद्भेदाः, ते चानेन विधिना भावनीयाः- सुरनृपति-यतिज्ञाति-स्थविरा-धम-मातृपितृष्वष्टसु मनोवाक्कायप्रदान-चतुर्विधविनयकरणात्, तद्यथा-देवानां विनयं करोति मनसा वाचा कायेन तथा देशकालोपपन्नेन दानेनेत्येवमादि । एते च विनयादेव स्वर्गापवर्गमार्गमभ्युपयन्ति, नीचैवृत्त्यनुत्सेकलक्षणो विनयः, सर्वत्र चैवंविधेन विनयेन देवादिषूप-तिष्ठमानः स्वर्गापवर्गभाग् भवति, उक्तं च- 'विणयाउ णाणं णाणाओ दंसणं दंसणाओ चरणं च । चरणाहिंतो मोक्खो मोक्खे सोक्खं अणाबाहं ।।१ ।।' (विनयात् ज्ञानं ज्ञानाद्दर्शनं दर्शनात् (ज्ञानदर्शनाभ्यां) चरणं च । चरणात् (ज्ञानदर्शनचारित्रेभ्यः) मोक्षो मोक्षे सौख्यमनाबाधम् ।।१ ।। अत्र च क्रियावादिनामस्तित्वे सत्यपि केषाञ्चित्सर्वगतो नित्योऽनित्यः कर्त्ताऽकर्त्ता मूर्त्तोऽमूर्त्तः श्यामाक-तण्डुलमात्रोऽङ्गुष्ठपर्वमात्रो दीपशिखोपमो हृदयाधिष्ठान इत्यादिकः, अस्ति चौपपातिकश्च, अक्रियावादिनां त्वात्मैव न विद्यते, कुतः पुनरौपपातिकत्वम् ?, अज्ञानिकास्तु नात्मानं प्रति विप्रतिपद्यन्ते, किन्तु तज्ज्ञानमकिञ्चित्करमेषामिति, वैनयिकानामपि नात्माऽस्तित्वे विप्रतिपत्तिः, किन्त्वन्यन्मोक्षसाधनं विनयादृते न सम्भ-वतीति प्रतिपन्नाः । तत्रानेन सामान्या-त्मास्तित्वप्रतिपादनेनाक्रियावादिनो निरस्ता द्रष्टव्याः, आत्मास्तित्वानभ्युपगमे च- 'शास्ता शास्त्रं शिष्यः प्रयोजनं वचनहेतुदृष्टान्ताः । सन्ति न शून्यं ब्रुवतस्तदभावाच्चाप्रमाणं

स्यात् ।।१।। प्रतिषेद्धप्रतिषेधौ स्तश्चेच्छून्यं कथं भवेत्सर्वम् ? । तदभावेन तु सिद्धा अप्रतिषिद्धा जगत्यर्थाः ।।२।।' एवं शेषाणामप्यत्रैव यथासम्भवं निराकरणमुत्प्रेक्ष्यमिति ।।३।। गतमानुषङ्गिकं, प्रकृतमनुस्रियते-तत्रेह 'एवमेगेसिं णो णायं भवइ' इत्यनेन केषाञ्चिदेव संज्ञानिषेधात्केषाञ्चित्तु भवतीत्युक्तं भवति, तत्र सामान्यसंज्ञायाः प्रतिप्राणि सिद्धत्वात्तत्कारण-परिज्ञानस्य चेहाकिञ्चित्करत्वाद्विशिष्टसंज्ञायास्तु केषाञ्चिदेव भावात् तस्याश्च भवान्तरगाम्यात्मस्पष्टप्रतिपादने सोपयोगित्वाद् सामान्यसंज्ञाकारणप्रति-पादनमनादृत्य विशिष्टसंज्ञायाः कारणं सूत्रकृद्दर्शयितुमाह-

से जं पुण जाणेज्जा सह संमइयाए (इए) परवागरणेणं अण्णेसिं अंतिए वा सोच्चा, तंजहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि जाव अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं जं णायं भवति-अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ (अणुसंसरइ) सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ, सोऽहं ।।सू.४।।

'से जं पुण जाणेज्जत्ति सूत्रं यावत् सोऽह'मिति 'से' इति निर्देशो मागधशैल्या प्रथमैकवचनान्तः, स इत्यनेन च यः प्राग्निर्दिष्टो ज्ञाता विशिष्टक्षयोपशमादिमान् स प्रत्यवमृश्यते, यदित्यनेनापि यत्प्राग्निर्दिष्टं दिग्विदिगागमनं, तथा कोऽहमभूवमतीतजन्मनि देवो नारकस्तिर्यग्योनो मनुष्यो वा ? स्त्री पुमान्नपुंसको वा ?, को वाऽमुतो मनुष्यजन्मनः प्रभ्रष्टोऽहं प्रेत्य देवादिर्भविष्यामीत्येतत्परामृश्यते, 'जानीयाद्' अवगच्छेद् इदमुक्तं भवति-न कश्चिदनादौ संसृतौ पर्यटन्नसुमान् दिगागमनादिकं जानी-यात्, यः पुनर्जानीयात्स एवं 'सह सम्मइयाए'त्ति सहशब्दः सम्बन्धवाची, सदिति प्रशंसायां, मतिः-ज्ञानम्. अयमत्र वाक्यार्थः-आत्मना सह सदा या सन्मतिर्वर्त्तते तया सन्मत्या कश्चिज्जानीते, सहशब्दविशेषणाच्च सदा-ऽऽत्मस्वभावत्वं मतेरावेदितं भवति, न पुनर्यथा वैशेषिकाणां व्यतिरिक्ता सती समवायवृत्त्याऽऽत्मनि समवेतेति । यदि वा 'सम्मइए'त्ति स्वकीयया

मत्या स्वमत्येति, तत्र भिन्नमप्यश्वादिकं स्वकीयं दृष्टमत: सहशब्दविशेषणं, सहशब्दश्चासमस्त इति, सत्यपि चात्मन: सदा मतिसन्निधाने प्रबलज्ञाना-वरणावृतत्वान्न सदा विशिष्टोऽवबोध: इति, सा पुन: सन्मति: स्वमतिर्वा अवधिमनपर्यायकेवलज्ञानजातिस्मरणभेदाश्चतुर्विधा ज्ञेया, तत्रावधिमन:-पर्यायकेवलानां स्वरूपमन्यत्र विस्तरेणोक्तं, जातिस्मरणं त्वाभिनिबोधिक-विशेष:, तदेवं चतुर्विधया मत्याऽऽत्मन: कश्चिद्विशिष्टदिग्गत्यागती जानाति, कश्चिच्च पर:-तीर्थकृत्सर्वज्ञ:, तस्यैव परमार्थत: परशब्दवाच्य-त्वात्परत्वं, तस्य तेन वा व्याकरणम्-उपदेशस्तेन जीवांस्तद्भेदांश्च-पृथिव्यादीन् तद्गत्यागती च जानाति, अपर: पुन: 'अन्येषां' तीर्थंकरव्यतिरिक्तानामतिशयज्ञानिनामन्तिके श्रुत्वा जानातीति, यच्च जानाति तत् सूत्रावयवेन दर्शयति-तद्यथा-पूर्व्वस्या दिश आगतोऽहमस्मि, एवं दक्षिणस्या: पश्चिमाया: उत्तरस्या ऊर्ध्वदिशोऽधोदिशोन्यतरस्या दिशोऽनुदिशो वाऽऽगतोऽहमस्मीत्येवमेकेषां विशिष्टक्षयोपशमादिमतां तीर्थंकरान्यातिशयज्ञानिबोधितानां च ज्ञातं भवति, तथा प्रतिविशिष्टदिगाग-मनपरिज्ञानानन्तरमेषामेतदपि ज्ञातं भवति-यथा अस्ति मेऽस्य शरीरकस्या-धिष्ठाता ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण 'उपपादुको' भवान्तरसंक्रांतिभाग् असर्व-गतो भोक्ता मूर्त्तिरहितोऽविनाशी शरीरमात्रव्यापीत्यादिभुणवानात्मेति । स च द्रव्यकषाययोगोपयोगज्ञान-दर्शनचारित्रवीर्यात्मभेदादष्टधा, तत्रो-पयोगात्मना बाहुल्येनेहाधिकार:, शेषास्तु तदंशतयोपयुज्यन्त इति उपन्यस्ता: । तथा अस्ति च ममात्मा, योऽमुष्या दिशोऽनुदिशश्च सकाशाद् 'अनुसञ्चरति' गतिप्रायोग्यकर्मो-पादानादनुपश्चात् सञ्चरत्यनुसञ्चरति, 'पाठान्तरं' वा 'अणुसंसरइ'त्ति दिग्विदिशां गमनं भावदिगागमनं वा स्मरतीत्यर्थ: । साम्प्रतं सूत्रावयवेन पूर्वसूत्रोक्तमेवार्थमुपसंहरतिसर्वस्या दिश: सर्वस्याश्चानुदिशो य आगतोऽनुसञ्चरति अनुसंस्मरतीति वा स: 'अह'मित्यात्मोल्लेख:,

अहंप्रत्ययग्राह्यत्वादात्मनः, अनेन पूर्वाद्याः प्रज्ञापकदिशः सर्वा गृहीताः भावदिशश्चेति । इममेवार्थं निर्युक्तिकृद्दर्शयितुमना गाथात्रितयमाह–

जाणइ सयं मईए अन्नेसि वावि अन्तिए सोच्चा ।
जाणगजणपण्णविओ जीवं तह जीवकाए वा ॥६४॥
इत्थ य सह संमइअत्ति जं एयं तत्थ जाणणा होई ।
ओहीमणपज्जवनाणकेवले जाइसरणे य ॥६५॥
परवइ वागरणं पुण जिणवागरणं जिणा परं नत्थि ।
अण्णेसिं सोच्चंतिय जिणेहिं सव्वो परो अण्णो ॥६६॥

कश्चिदनादिसंसृतौ पर्यटन्नवध्यादिकया चतुर्विधया स्वकीयया मत्या जानाति । अनानुपूर्वीन्यायप्रकटनार्थं पश्चादुपात्तमप्यन्येषामित्येतत्पदं तावदाचष्टे–'अन्येषां वा' अतिशयज्ञानिनामन्तिके श्रुत्वा जानाति, तथा 'जाणगजणपण्णविओ' इत्यनेन परव्याकरणमुपात्तं, तेनायमर्थो–ज्ञापकः–तीर्थकृत्तत्प्रज्ञापितश्च जानाति, यज्जानाति तत् स्वत एव दर्शयति–सामान्यतो 'जीव'मिति, अनेन चाधिकृतोद्देशकस्यार्थाधिकारमाह, तथा 'जीवका–यांश्च' पृथ्वीकायादीन् इत्यनेन चोत्तरेषां षण्णामप्युद्देशकानां यथाक्रममधिकारार्थमाहेति, अत्र च 'सह सम्मइए'त्ति सूत्रे यत्पदं तत्र जाणणत्ति ज्ञानमुपात्तं भवति, 'मति ज्ञाने' मननं मतिरितिकृत्वा, तच्च किंभूतमिति दर्शयति–'अवधिमनःपर्यायकेवलजातिस्मरणरूप'मिति, तत्रावधिज्ञानी संख्येयानसंख्येयान्वा भवान् जानाति, एवं मनःपर्यायज्ञान्यपि, केवलज्ञानी तु नियमतोऽनन्तान्, जातिस्मरणस्तु नियमतः संख्येयानिति, शेषं स्पष्टम् । अत्र च सहसम्मत्यादिपरिज्ञाने सुखप्रतिपत्त्यर्थं त्रयो दृष्टान्ताः प्रदर्श्यन्ते, तद्यथा–वसन्तपुरे नगरे जितशत्रू राजा, धारणी नाम महादेवी, तयोर्द्धर्म्मरुच्यभिधानः सुतः, स च राजाऽन्यदा तापसत्वेन प्रव्रजितु–मिच्छुर्द्धर्मरुचिं राज्ये स्थापयितुमुद्यतः, तेन च जननी पृष्टा–किमिति तातो राज्यश्रियं त्यजति ?, तयोक्तम्–किमनया चपलया

नारकादिसकलदु:खहेतू-भूतया स्वर्गापवर्गमार्गार्गलया अवश्यमपायिन्या परमार्थत इहलोकेऽप्यभिमानमात्रफलयेत्यतो (फलया चेत्यतो) विहायैनां सकलसुखसाधनं धर्मं कर्त्तुमुद्यत:, धमरुचिस्तदा कर्ण्योक्तवान्-यद्येवं किमहं तातस्यानिष्टो ? येनैवंभूतां सकल-दोषाश्रयिणीं मयि नियोजयति, सकलकल्याणहेतोर्द्धर्मात्प्रच्यावयतीत्यभिधाय पित्राऽनुज्ञातस्तेन सह तापसाश्रममगात्, तत्र च सकलास्तापसक्रिया यथोक्ता: पालयन्नास्ते, अन्यदाऽमावास्याया: पूर्वाह्णे केनचित्ता(एकेन ता)पसेनोद्घुष्टम्-यथा भो भो: तापसा: ! श्वोऽनाकुट्टिर्भविता, अतोऽद्यैव समित्कुसुमकुशकन्द-फलमूलाद्याहरणं कुरुत, एतच्चाकर्ण्य धर्मरुचिना जनक: पृष्ट:-तात ! केयमनाकुट्टिरिति, तेनोक्तम्-पुत्र ! कन्दफलादी(लतादी)नामच्छेदनं, तद्ध्यमावास्यादिके विशिष्टे पर्वदिवसे न वर्त्तते, सावद्यत्वाच्छेद-नादिक्रियाया:, श्रुत्वा चैतदसावचिन्तयत्-यदि पुन: सर्वदाऽनाकुट्टि: स्याच्छोभनं भवेद्, एवमध्यवसायिनस्तस्यामावास्यायां तपोवनासन्नपथेन गच्छतां साधूनां दर्शनमभूत्, ते च तेनाभिहिता:-किमद्य भवतामनाकुट्टिर्न सञ्जाता ? येनाटवीं प्रस्थिता:, तैरप्यभिहितम्- 'यथाऽस्माकं यावज्जी-वमनाकुट्टि'रित्यभिधायातिक्रान्ता: साध्व:, तस्य च तदाकर्ण्येहापोह-विमर्शेन जातिस्मरणमुत्पन्नं-यथाऽहं जन्मान्तरे प्रव्रज्यां कृत्वा देवलोक-सुखमनुभूयेहागत इति, एवं तेन विशिष्टदिगागमनं स्वमत्याजातिस्मरणरूपया विज्ञातं, प्रत्येकबुद्धश्च जात:, एवमन्येऽपि वल्कलचीरिश्रेयांसप्रभृतयोऽत्र योज्या इति । परव्याकरणे त्विदमुदाहरणम्-गौतमस्वामिना भगवान्वर्द्ध-मानस्वामिना पृष्टो-भगवन् ! किमिति मे केवलज्ञानं नोत्पद्यते ? भगवता व्याकृतं-भो गौतम ! भवतोऽतीव ममोपरि स्नेहोऽस्ति, तद्वशात् तेनोक्तम्-भगवन्नेवमेवं-(मेतत्), किंनिमित्त: पुनरसौ मम भगवदुपरि स्नेह: ? ततो भगवता तस्य बहुषु भवान्तरेषु पूर्वसम्बन्ध: समावेदित: 'चिरसंसिट्ठोऽसि मे गोयमा ! चिर परिचिओऽसि मे गोयमे' (चिरसंसृष्टोऽसि मया गौतम ! चिरपरिचितोऽसि मम गौतम !) त्येवमादि, तच्च

तीर्थकृद्व्याकरण (कृत्प्रतिपादित) माकर्ण्य गौतमस्वामिनो विशिष्टदिगागमनादिविज्ञानमभूदिति । अन्यश्रवणे त्विदमुदाहरणम्-मल्लिस्वामिना षण्णां राजपुत्राणामुद्वाहार्थमागतानामवधिज्ञानेन तत्प्रतिबोधनार्थं यथा जन्मान्तरे सहितैरेव प्रव्रज्या कृता, यथा च तत्फलं देवलोके जयन्ताभिधानविमानेऽनुभूतं तथाऽऽख्यातं, तच्चाकर्ण्य ते लघुकर्म्मत्वात्प्रतिबुद्धा विशिष्टदिगागमनविज्ञानं च सञ्जातं, उक्तं च- 'किं थ(च)तयं पम्हुट्ठं जं च तया भो ! जयंतपवरंमि । वुच्छा समयनिबद्धं देवा ! तं संभरह जातिं ॥१॥' (किमथ तद्विस्मृतं यच्च तदा भो जयन्तप्रवरे । उषिताः निबद्धसमयं देवास्तां स्मरत जातिम् ॥१॥) इति गाथात्रयतात्पर्य्यार्थः ॥४॥

साम्प्रतं प्रकृतमनुस्त्रियते-यो हि सोऽहमित्यनेनाहङ्कारज्ञानेनात्मोल्लेखेन पूर्वादेर्दिश आगतमात्मानमविच्छिन्नसंततिपाततं द्रव्यार्थतया नित्यं पर्यायार्थतया त्वनित्यं जानाति स परमार्थतः आत्मवादीति सूत्रकृद्दर्शयति-

से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी ॥सू०५॥

'स' इति यो भ्रान्तः पूर्वं नारकतिर्यग्नरामराद्यासु भावदिक्षु पूर्वाद्यासु च प्रज्ञापकदिक्षु अक्षणिकामूर्त्तादिलक्षणोपेतमात्मानमवैति(नं वेत्ति), स इत्थंभूतः 'आत्मवादी' ति आत्मानं वदित्तुं शीलमस्येति, यः पुनरेवंभूतमात्मानं नाभ्युपगच्छति सोऽनात्मवादी नास्तिक इत्यर्थः । योऽपि सर्वव्यापिनं नित्यं क्षणिकं वाऽऽत्मानभ्युपैति सोऽप्यनात्मवाद्यैव, यतः सर्वव्यापिनो निष्क्रियत्वाद्भवा-न्तरसंक्रान्तिर्न स्यात्, सर्वथा नित्यत्वेऽपि 'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं नित्य' मितिकृत्वा मरणाभावेन भवान्तरसंक्रान्तिरेव न स्यात्, सर्वथा क्षणिकत्वेपि निर्मूलविनाशात्सोऽहमित्यनेन पूर्वोत्तरानुसन्धानं न स्यात् । य एव चात्मवादी स एव परमार्थतो लोकवादी, यतो लोकयतीति लोकः-प्राणिगणस्तं वदितुं शीलमस्येति, अनेन चात्माद्वैतवादिनिरासेनात्मबहुत्वमुक्तं, यदिवा 'लोकापाती' ति लोकः-चतुर्दशरज्ज्वात्मकः प्राणिगणो वा, तत्रापतितुं शीलमस्येति, अनेन च विशिष्टाकाशखण्डस्य लोकसंज्ञाऽऽवेदिता, तत्र च (तत्रैव) जीवास्ति-

कायस्य सम्भवेन जीवानां गमनागमनमावेदितं भवति, य एव च दिगादिगमनपरिज्ञानेनात्मवादी लोकवादी च संवृत्तः, स एवासुमान् 'कर्मवादी' कर्मज्ञानावरणीयादि तद्वदितुं शीलमस्येति, यतो हि प्राणिनो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैः पूर्वं गत्यादियोग्यानि कर्माण्यददते, पश्चात्तासु तासु विरूपरूपासु योनिषूत्पद्यन्ते, कर्म्म च प्रकृतिस्थित्य-नुभावप्रदेशात्मकमवसेयमिति । अनेन च कालयदृच्छानियतीश्वरात्मवादिनो निरस्ता द्रष्टव्याः । तथा च एव कर्मवादी स एव क्रियावादी, यतः कर्म योगनिमित्तं बध्यते, योगश्च व्यापारः, स च क्रियारूपः, अतः कर्मणः कार्यभूतस्य वदनात्तत्कारणभूतायाः क्रियाया अप्यसावेव परमार्थतो वादीति, क्रियायाश्च कर्मनिमित्तत्वं प्रसिद्धमागमे, स चायमागमः-'जाव णं भंते ! एस जीवे सया समियं एयइ वेयइ चलति फंदति घट्टति तिप्पति जाव तं तं भावं परिणमति ताव च णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविह-बंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा, णो णं अबंधए'त्ति, (यावद् भदन्त ! एष जीवः सदा समितमेजते व्येजते चलति स्पन्दते तिप्यति यावत् तं तं भावं परिणमति तावच्च अष्टविधबन्धको वा सप्तविधबन्धको वा षड्वि-धबन्धको वा एकविधबन्धको वा, नाबन्धकः ।) एवं च कृत्वा य एव कर्म्मवादी स एव क्रियावादीति, अनेन च सांख्याभिमत-मात्मनोऽक्रिया-वादित्वं निरस्तं भवति ॥५॥ साम्प्रतं पूर्वोक्तां क्रियामात्मपरिणतिरूपां विशिष्टकालाभिधायिना तिङ्प्रत्ययेनाभिदधदहं-प्रत्ययसाध्यस्यात्मनस्तद्भव एवावधिमनः पर्यायकेवलज्ञान जातिस्मरण-व्यतिरिकेणैव त्रिकालसंस्प-र्शिना मतिज्ञानेन सद्भावावगमं दर्शयितुमाह-

अकरिस्सं चऽहं कारवेसुं चऽहं, करओ आवि समणुन्न भविस्सामि ॥सू०६॥

इह भूतवर्त्तमानभविष्यत्कालापेक्षया कृतकारितानुमतिभिर्नव विकल्पाः संभवन्ति, ते चामी-अहमकार्षमचीकरमहं कुर्वन्तमन्यमनु-ज्ञासिषमहं करोमि कारयाम्यनुजानाम्यहमिति करिष्याम्यहं कारयिष्याम्यहं

कुर्वन्तमन्यमनुज्ञास्याम्यहमिति, एतेषां च मध्ये आद्यन्तौ सूत्रेणैवोपात्तौ, तदुपादानाच्च तन्मध्यपातिनां सर्वेषां ग्रहणम्, अस्यैवार्थस्याविष्करणाय द्वितीयो विकल्पः 'कारवेसुं चऽह' मिति सूत्रेणोपात्तः, एते च चकारद्वयोपादानादपिशब्दोपादानाच्च (चकारद्वयापिशब्दोपादानान्मनो० प्र.) मनोवाक्कायैश्चिन्त्यमानाः सप्तविंशतिर्भेदा भवन्ति, अयमत्र भावार्थः-अकार्षमहमित्यत्राहमित्यनेनात्मोल्लेखिना विशिष्टक्रियापरिणतिरूप आत्माऽभिहितः, ततश्चायं भावार्थो भवति-स एवाहं येन मयाऽस्य देहादेः पूर्वं यौवनावस्थायामिन्द्रियवशगेन विषयविषमोहितान्धचेतसा तत्तदकार्य्यानुष्ठानपरायणेनाऽऽनुकूल्यमनुष्ठितम्, उक्तं च- 'विहवावलेवनडिएहिं जाइं कीरंति जोव्वणमएणं । वयपरिणामे सरियाइं ताइं हियए खुडुक्कंति ।।१ ।।' (विभवावलेपनटितैर्यानि क्रियन्ते यौवनमदेन । वयःपरिणामे स्मृतानि तानि हृदये शल्यायन्ते ।।१ ।।) तथा 'अचीकरमह'मित्यनेन परोऽकार्यादौ प्रवर्त्तमानो मया प्रवृत्तिं कारितः, तथा कुर्वन्तमन्यमनुज्ञात-वानित्येवं कृतकारितानुमतिभिर्भूतकालाभिधानं, तथा 'करोमी' त्यादिना वचनत्रिकेण वर्त्तमानकालोल्लेखः, तथा करिष्यामि कारयिष्यामि कुर्वतोऽ-न्यान् प्रति समनुज्ञापरायणो भविष्यामीत्यनागतकालोल्लेखः, अनेन च कालत्रयसंस्पर्शेन देहेन्द्रियातिरिक्तस्यात्मनो भूतवर्त्तमानभविष्यत्कालपरिणतिरूपस्यास्तित्वावगतिरावेदिता भवति, सा च नैकान्तक्षणिकनित्यवादिनां सम्भवतीत्यतोऽनेन ते निरस्ताः, क्रियापरिणामेनात्मनः परिणामित्वाभ्युपगमादिति, एतदनुसारेणैव सम्भवानुमानादतीतानागतयोरपि भवयोरात्मास्तित्वमवसेयम् । यदिवा-अनेन क्रियाप्रबन्धप्रतिपादनेन कर्मण उपादानभूतायाः क्रियायाः स्वरूपमावेदितमिति ।।६ ।। अथ किमेतावत्य एव क्रिया उतान्या अपि सन्तीति, एता एवेत्याह-

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति ।।सू०७ ।।

'एयावंती'त्यादि एतावन्तः सर्वेऽपि 'लोके' प्राणिसङ्घाते 'कर्म्म-

समारम्भाः' क्रियाविशेषा ये प्रागुक्ताः अतीतानागतवर्त्तमानभेदेन कृतकारितानुमतिभिश्च अशेषक्रियानुयायिना च करोतिना सर्वेषां सङ्ग्रहादिति, एतावन्त एव परिज्ञातव्या भवन्ति नान्य इति । परिज्ञा च ज्ञप्रत्याख्यानभेदाद्द्विधा, तत्र ज्ञपरिज्ञयाऽऽत्मनो बन्धस्य चास्तित्वमेतावद्भिरेव सवैः कर्म्मसमारम्भैर्ज्ञातं भवति, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च सर्वे पापोपादनहेतवः कर्म्मसमारम्भाः प्रत्याख्यातव्या इति । इयता सामान्येन जीवास्तित्वं प्रसाधितमधुना तस्यैवात्मनो दिगादिभ्रमण-हेतूपदर्शनपुरस्सरमपायान् प्रदर्शितुमाह- यदिवा यस्तावदात्मकर्मादिवादी स दिगादिभ्रमणान्मोक्ष्यते, इतरस्य तु विपाकान् दर्शयितुमाह-

अपरिण्णायकम्मे खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिशाओ अणुदिसाओ अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ साहेति ।।सू०८।।

'अपरिण्णाये'त्यादि योऽयं पुरिं शयनात्पूर्णः सुखदुःखानां वा पुरुषोजन्तुर्मनुष्यो वा, प्राधान्याच्च पुरुषस्योपादानम्, उपलक्षणं चैतत्, सर्वोऽपि चतुर्गत्यापन्नः प्राणी गृह्यते, दिशोऽनुदिशो वाऽनुसञ्चरति सः 'अपरिज्ञातकर्मा' अपरिज्ञातं कर्मानेनेत्यपरिज्ञातकर्म्मा, खलुरवधारणे, अपरिज्ञातकर्मैव दिगादौ भ्राम्यति नेतर इति, उपलक्षणं चैतद्, अपरिज्ञातात्मापरिज्ञातकर्म्मा, खलुरवधारणे, अपरिज्ञातकर्मैव दिगादौ भ्राम्यति नेतर इति, उपलक्षणं चैतद्, अपरिज्ञातात्मापरिज्ञातक्रियश्चेतिः यश्चापरिज्ञातकर्मा स सर्वा दिशः सवाश्चानुदिशः 'साहेति' स्वयंकृतेन कर्मणा सहानुसञ्चरति, सर्वग्रहणं सर्वासां प्रज्ञापकदिशां भावदिशां चोपसङ्ग्रहार्थम् ।।८।। स यदाप्नोति तद्दर्शयति-

अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ (संधावइ), विरुवरूवे फासे पडिसंवेदेइ ।।सू०९।।

अनेकं संकटविकटादिकं रूपं यासां तास्तथा, यौतिमिश्रीभवत्यौदारिकादिशरीरवर्गणापुद्गलैरसुमान् यासु ता योनयः-प्राणिनामुत्पत्ति-

स्थानानि, अनेकरूपत्वं चासां संवृतविवृतोभयशीतोष्णोभयरूपतया, यदिवा चतुरशीतियोनिलक्षभेदेन, ते चामी चतुरशीतिर्लक्षाः- 'पुढवी-जलजलनमारुय एक्केक्के सत्त सत्त लक्खाओ । वण पत्तेय अणंते दस चोद्दस जोणिलक्खाओ ।।१ ।। विगलिंदिएसु दो दो चउरो चउरो य णारयसुरेसुं । तिरिएसु हुंति चउरो चोद्दस लक्खा य मणुएसु ।।२ ।। (पृथ्वीजलज्वलनमारुतेषु एकैकस्मिन् सप्त सप्त लक्षाः । प्रत्येकवने अनन्ते दश चतुर्दश योनिलक्षाः ।।१ ।। विकलेन्द्रियेषु द्वे द्वे चतस्रश्चतस्रश्च नारकसुरेषु । तिरश्चि भवन्ति चतस्रश्चतुर्दश लक्षाश्च मनुष्येषु ।।२ ।।) तथा शुभाशुभभेदेन योनीनामनेकरूपत्वं गाथाभिः प्रदर्श्यते-

'सीयादी जोणीओ चउरासीती य सयसहस्साइं । असुभाओ य सुभाओ तत्थ इमा जाण ।।१ ।। अस्संखाउमणुस्सा राईसर संखमादिआऊणं । तित्थगरनामगोत्तं सव्वसुहं होइ नायव्वं ।।२ ।। तत्थवि य जाइसंपन्नतादि सेसाउ हुंति असुभाओ । देवेसु किव्विसादी सेसाओ हुंति उ सुभाओ ।।३ ।। पंचिंदियतिरिएसुं हयगयरयणे हवंति उ सुभाओ । सेसाओ अ सुभाओ सुभवण्णेगिंदियादीया ।।४।। देविंदचक्कवट्टित्तणाइं मोत्तुं च तित्थगरभावं । अणगारभाविताविय सेसा उ अणंतसो पत्ता ।।५ ।।' (शीताद्या योनयश्चतुरशीतिश्च शतसहस्राणि । अशुभाः शुभाश्च तत्र शुभा इमा जानीहि ।।१ ।। असंख्यायुर्मनुष्याः संख्यायुष्काणां राजेश्वराद्याः । तीर्थकरनामगोत्रं सर्वशुभं भवति ज्ञातव्यम् ।।२ ।। तत्रापि च जातिसम्पन्नताद्याः शेषा भवन्त्यशुभाः । देवेषु किल्बिषाद्याः शेषा भवन्ति च शुभाः ।।३ ।। पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु हयगजरत्नयोर्भवति शुभा । शेषाश्च शुभाः शुभवर्णैकेन्द्रियाद्याः ।।४ ।। देवेन्द्रचक्रवर्तित्वे मुक्त्वा तीर्थकरभावं च । भावितानगारतामपि च शेषास्त्वनन्तशः प्राप्ताः ।।५ ।।) एताश्चानेकरूपा योनिर्दिगादिषु पर्यटन्नपरिज्ञातकर्माऽसुमान् 'संधेइ'त्ति सन्धयति-सन्धिं करोत्यात्मना, सहाविच्छेदेन संघट्टयतीत्यर्थः, 'संधावइ'त्ति वा पाठान्तरं, 'सन्धावति' पौनःपुन्येन तासु(ताः) गच्छतीत्यर्थः, तत्सन्धाने च

यदनुभवति तद्दर्शयति-विरूपं-बीभत्समनोज्ञं रूपं-स्वरूपं येषां स्पर्शानां दुःखोपनिपातानां ते तथा, स्पर्शाश्रिता दुःखोपनिपाताः स्पर्शा इत्युक्ताः, 'तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश' इतिकृत्वा, उपलक्षणं चैतन्मानस्योऽपि वेदना ग्राह्याः, अतस्तानेवम्भूतान् स्पर्शान् 'प्रत्तिसंवेदयति' अनुभवति, प्रतिग्रहणात्प्रत्येकं शारीरान्मानसांश्च दुःखोपनिपाताननुभवतीत्युक्तं भवति, स्पर्शग्रहणं चेह सर्वसंसारान्तर्वर्त्तिजीवराशिसङ्ग्रहार्थं, स्पर्शनेन्द्रियस्य सर्वजीवव्यापित्वाद्, अ(त)त्रेदमपि वक्तव्यं-सर्वान्विरूपरूपान् रसगन्धरूपशब्दान् प्रतिसंवेदयतीति, विरूपरूपत्वं च स्पर्शानां कार्यभूतानां विचित्रकर्मोदयात्कारणभूताद्भवतीति वेदितव्यं, विचित्रकर्मोदयाच्चापरिज्ञातकर्मा संसारी स्पर्शादीन्विरूपरूपांस्तेषु तेषु योन्यन्तरेषु विपाकतः परिसंवेदयतीति, आह च-'तैः कर्मभिः स जीवो विवशः संसारचक्रमुपयाति । द्रव्यक्षेत्राद्धाभावभिन्नमावर्त्तते बहुशः ॥१॥ नरकेषु देवयोनिषु तिर्यग्योनिषु च मनुजयोनिषु च । पर्यटति घटीयन्त्रवदात्मा बिभ्रच्छरीराणि ॥२॥ सततानुबद्धमुक्तं दुःखं नरकेषु तीव्रपरिणामम् । तिर्यक्षु भयक्षुत्तृड्वधादिदुःखं सुखं चाल्पम् ॥३॥ सुखदुःखे मनुजानां मनःशरीराश्रये बहुविकल्पे । सुखमेव हि देवाना दुःखं स्वल्पं च मनसि भवम् ॥४॥ कर्मानुभावदुःखित एवं मोहान्धकारगहनवति । अन्ध इव दुर्गमार्गे भ्रमति हि संसारकांतारे ॥५॥ दुःखप्रतिक्रियार्थं सुखाभिलाषाच्च पुनरपि तु जीवः । प्राणिवधादीन् दोषानधितिष्ठति मोहसंछन्नः ॥६॥ बध्नाति ततो बहुविधमन्यत्पुनरपि नवं सुबहु कर्म । तेनाथ पच्यते पुनरग्नेरग्निं प्रविश्येव ॥७॥ एवं कर्माणि पुनः पुनः स बध्नंस्तथैव मुञ्चश्च । सुखकामो बहुदुःखं संसार-मनादिकं भ्रमति ॥८॥ एवं भ्रमतः संसारसागरे दुर्लभं मनुष्यत्वम् । संसारमहत्त्वाधार्मिकत्वदुष्कर्म्मबाहुल्यैः ॥९॥ आर्यो देशः कुलरूपसम्पदायुश्च दीर्घमारोग्यम् । यतिसंसर्गः श्रद्धा धर्म्मश्रवणं च मतितैक्ष्ण्यम् ॥१०॥ एतानि दुर्लभानि प्राप्तवतोऽपि दृढमोहनीयस्स । कुपथाकुलेऽर्हदुक्तोऽतिदुर्लभो जगति सन्मार्गः ॥११॥' यदि वा योऽयं पुरुषः

सर्वा दिशोऽनुदिशश्चानुसञ्चरति तथाऽनेकरूपा योनी: सन्धावति विरूपरूपांश्च स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति, स: 'अविज्ञातकर्मा' अविज्ञातम्-अविदितं कर्म्मक्रिया व्यापारो मनोवाक्कायलक्षण:, अकार्षमहं करोमि करिष्यामीत्येवंरूप: जीवोपमर्दात्मकत्वेन बन्धहेतु: सावद्यो येन सोऽयम-विज्ञातकर्मा, अविज्ञातकर्मत्वेन च तत्र तत्र कर्मणि जीवोपमर्दादिके प्रवर्त्तते येन येनास्याष्टविधकर्म्मबन्धो भवति, तदुदयाच्चानेकरूपयोन्यनुसन्धानं विरूपरूपस्पर्शानुभवश्च भवतीति ।।९।। यद्येवं तत: किमित्यत आह-

तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेइआ ।।सू०१०।।

'तत्र' कर्मणि व्यापारे अकार्षमहं करोमि करिष्यामीत्यात्म-परिणतिस्वभावतया मनोवाक्कायव्यापाररूपे 'भगवता' वीरवर्द्धमान-स्वामिना परिज्ञानं परिज्ञा सा प्रकर्षेण प्रशस्ताऽऽदौ वा वेदिता प्रवेदिता, एतच्च सुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिनाम्ने कथयति, सा च द्विधा-ज्ञपरिज्ञा प्रत्याख्यानपरिज्ञा च, तत्र ज्ञपरिज्ञया सावद्यव्यापारेण बन्धो भवतीत्येवं भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, प्रत्या-ख्यानपरिज्ञया च सावद्ययोगा बन्धहेतव: प्रत्याख्येया इत्येवंरूपा चेति ।। अमुमे-वार्थं निर्युक्तिकृदाह-

तत्थ अकारि करिस्संति बंधचिंता कया पुणो होई ।
सहसम्मइया जाणइ कोइ पुण हेतुजुत्तीए ।।६७।।

'तत्र' कर्मणि क्रियाविशेषे, किम्भूत इत्याह- 'अकारि करिस्संति' अकारीति कृतवान् करिस्सन्ति-करिष्यामीति, अनेनातीतानागतोपादानेन तन्मध्यवर्तिनो वर्त्तमानस्य कारितानुमत्योश्चोपसङ्ग्रहान्नवापि भेदा आत्मपरिणामत्वेन योगरूपा उपात्ता द्रष्टव्या:, तत्रानेनात्मपरिणामरूपेण क्रियाविशेषेण 'बन्धचिन्ता कृता भवति' बन्धस्योपादानमुपात्तं भवति, 'कर्म योगनिमित्तं बध्यते' इति वचनात्, एतच्च कश्चिज्जानाति आत्मना सह या सन्मति: स्वमतिर्वाअवधिमन:पर्यायकेवलजातिस्मरणरूपा तया जानाति, कश्चिच्च पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणया हेतुयुक्तयेति । अथ किमर्थमसौ कटुकविपाकेषु कर्माश्रवहेतुभूतेषु क्रियाविशेषेषु प्रवर्त्तत इत्याह-

इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए । जाईमरणमो(भो) यणाए दुक्खपडिघायहेउं ।।सू० ११ ।।

तत्र जीवितमिति–जीवन्त्यनेनायु:कर्म्मणेति जीवितं–प्राणधारणम्, तच्च प्रतिप्राणि स्वसंविदितमितिकृत्वा प्रत्यक्षासन्नवाचिनेदमा निर्द्दिशति, चशब्दो वक्ष्यमाणजात्यादिसमुच्चयार्थ:, एवकारोऽवधारणे, अस्यैव जीवितस्यार्थे परिफल्गुसारस्य तडिल्लताविलसितचञ्चलस्य बह्वपायस्य दीर्घसुखार्थं क्रियासु प्रवर्त्तते, तथाहि–जीविष्याम्यहमरोग: सुखेन भोगान् भोक्ष्ये ततो व्याध्यपनयनार्थं स्नेहापानलावकपिशितभक्षणादिषु क्रियासु प्रवर्त्तते, तथाऽल्पस्य सुखस्य कृते अभिमानग्रहाकुलितचेता बह्वारम्भपरिग्रहाद्बह्वशुभं कर्मादत्ते, उक्तं च– 'द्वे वाससी प्रवरयोषिदपायशुद्धा, शय्याऽऽसनं करिवरस्तुरगो रथो वा । काले भिषग्नियमिताशनपानमात्रा, राज्ञ: पराक्यमिव सर्वमवेहि शेषम् ।।१ ।। पुष्ट्यर्थमन्नमिह यत्प्रणिधिप्रयोगै:, संत्रासदोषकलुषो नृपतिस्तु भुङ्क्ते । यन्निर्भय: प्रशमसौख्यरतिश्च भैक्षं, तत् स्वादुतां भृशमुपैति न पार्थिवान्नम् ।।२ ।। भृत्येषु मन्त्रिषु, सुतेषु मनोरमेषु, कान्तासु वा मधुमदाङ्कुरितेक्षणासु । विश्रम्भमेति न कदाचिदपि क्षितीश:, सर्वाभिशङ्कितमते: कतरत्तु सौख्यम् ।।३ ।।' तदेवमनवबुद्धतरुणकिशलयपलाशचञ्चलजीवितरतय: कर्माश्रवेषु जीवितोपमर्दादि–रूपेषु प्रवर्त्तन्ते, तथाऽस्यैव जीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं हिंसादिषु प्रवर्त्तन्ते, तत्र परिवन्दनं' संस्तव: प्रशंसा तदर्थमाचेष्टते, तथाहि–अहं मयूरादिपिशिताशनाद्बली तेजसा देदीप्यमानो देवकुमार इव लोकानां प्रशंसास्पदं भविष्यामीति 'माननम्' अभ्युत्थानासनदानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपं तदर्थं च चेष्टमान: कर्माचिनोति तथा पूजनं पूजा–द्रविणवस्त्रान्नपानसत्कारप्रणामसेवाविशेषरूपं तदर्थं च प्रवर्त्तमान: क्रियासु कर्माश्रवैरात्मानं सम्भावयति, तथाहि–'वीरभोग्या वसुन्धरे'ति मत्वा पराक्रमते, दण्डभयाच्च सर्वा प्रजा बिभ्यतीति दण्डयति, इत्येवं राज्ञामन्येषामपि यथासम्भवमायोजनीयम्, अत्र च वन्दनादीनां द्वन्द्वसमासं

कृत्वा तादर्थ्ये चतुर्थी विधेया, परिवन्दनमाननपूजनाय जीवितस्य कर्माश्रवेषु प्रवर्त्तन्त इति समुदायार्थः । न केवलं परिवन्दनाद्यर्थमेव कर्मादत्ते, अन्यार्थमप्यादत्त इति दर्शयति-जातिश्च मरणं च मोचनं च जातिमरणमोचनमिति समाहारद्वन्द्वात्तादर्थ्ये चतुर्थी, एतदर्थं च प्राणिनः क्रियासु प्रवर्त्तमानाः कर्माददते, तत्र जात्यर्थं क्रौञ्चारिवन्दनादिकाः (कार्त्तिकेयः) क्रिया विधत्ते, तथा यान् यान् कामान् ब्राह्मणादिभ्यो ददाति तांस्तानन्यजन्मनि पुनर्जातो भोक्ष्यते, तथा मनुनाऽप्युक्तम्- 'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति, सुखमक्षयमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टामायुष्कमभयप्रदः ॥१॥' अत्र चैकमेव सुभाषितम्-'अभयप्रदान' मिति तुषमध्ये कणिकावदिति, एवमादिकुमार्गोपदेशाद्धिंसादौ प्रवृत्तिं विदधाति । तथा मरणा-र्थमपि पितृपिण्डदानादिषु क्रियासु प्रवर्तते, यदिवा ममानेन सम्बन्धी व्यापादितस्तस्य वैरनिर्य्यातनार्थं वधबन्धादौ प्रवर्त्तते, यदिवा मरणनिवृत्त्यर्थमात्मनो दुर्गाद्युपयाचितमजादिना बलिं विधत्ते यशोधर इव पिष्टमयकुक्कुटेन, तथा मुक्त्यर्थम (मोक्षाया) ज्ञानावृतचेतसः पञ्चाग्नितपोऽनुष्ठानादिकेषु प्राण्युपमर्द्दकारिषु प्रवर्त्तमानाः कर्माददते, यदिवा जातिमरणयोर्विमोचनाय हिंसादिकाः क्रियाः कुर्वते । 'जाइमरणभोयणाए'त्ति वा पाठान्तरं, तत्र भोजनार्थं कुष्यादिकर्मसु प्रवर्त्तमाना वसुधाजलज्वलनपवनवनस्पतिद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियव्यापत्तये व्याप्रियन्त इति । तथा दुःखप्रतिघातमुररीकृत्यात्मपरित्राणार्थमारम्भानासेवन्ते, तथाहि-व्याधिवेदनार्त्ता लावकपिशितमदिराद्यासेवन्ते, तथा वनस्पतिमूलत्वक्पत्रनिर्यासादिसिद्धशतपाकादितैलार्थमग्न्यादिसमारम्भेण पापं कुर्वन्ति स्वतः कारयन्त्यन्यैः कुर्वतोऽन्यान् समनुजानत इत्येवमतीतानागतकालयोरपि मनोवाक्काययोगैः कर्मादानं विदधतीत्यायोजनीयम् । तथा दुःखप्रतिघातार्थमेव सुखोत्पत्त्यर्थं च कलत्रपुत्रगृहोपस्कराद्या ददते, तल्लाभपालनार्थं च तासु तासु क्रियासु प्रवर्त्तमानाः पापकर्मासेवन्त इति, उक्तं च- 'आदौ प्रतिष्ठाऽधिगमे प्रयासो, दारेषु पश्चाद्गृ-हिणः सुतेषु ।

कर्त्तुं पुनस्तेषु गुणप्रकर्षं, चेष्टा तदुच्चैःपदलङ्घनाय ॥१॥' तदेवंभूतैः क्रियाविशेषैः कर्मोपादाय नानादिक्ष्वनुसञ्चरन्ति अनेकरूपासु च योनिषु सन्धावन्ति विरूपरूपांश्च स्पर्शान् प्रतिसंवेदयन्ति, इत्येतज्ज्ञात्वा क्रियाविशेषनिवृत्तिर्विधेयेति ॥११॥ एतावन्त एव च क्रियाविशेषा इति दर्शयितुमाह-

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति ॥सू०१२॥

'एआवन्ती सव्वावन्ती'ति एतौ द्वौ शब्दौ मागधदेशीभाषाप्रसिद्धया एतावन्तः सर्वेऽपीत्येतत्पर्यायौ, एतावन्त एव सर्वस्मिन् 'लोके' धर्माधर्मास्तिकायावच्छिन्ने नभःखण्डे ये पूर्वं प्रतिपादिताः 'कर्म्मसमारम्भाः' क्रियाविशेषाः, नैतेभ्योऽधिकाः केचन सन्तीत्येवं परिज्ञातव्या भवन्ति, सर्वेषां पूर्वत्रोपादाना-दिति भावः तथाहि-आत्मपरोभयैहिकामुष्मिकातीतानागतवर्त्तमानकाल-कृतकारितानुमतिभिरारम्भाः क्रियन्ते, ते च सर्वेऽपि प्रागुपात्ता यथासम्भवमा-योज्या इति ॥१२॥ एवं सामान्येन जीवास्तित्वं प्रसाध्य तदुपमर्द्दकारिणां च क्रियाविशेषाणां बन्धहेतुत्वं प्रदर्श्योपसंहारद्वारेण विरतिं प्रतिपादयन्नाह-

जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्तिबेमि ॥सू०१३॥

इति प्रथमाध्ययने प्रथमो उद्देशकः ॥१-१॥

भगवान् समस्तवस्तुवेदी केवलज्ञानेन साक्षादुपलभ्यैवमाह-'यस्य' मुमुक्षोः 'एते' पूर्वोक्ताः 'कर्मसमारम्भाः' क्रियाविशेषाः कर्मणो वा-ज्ञानावरणीयाद्यष्टप्रकारस्य समारम्भा उपादानहेतवस्ते च क्रियाविशेषा एव, परि-समन्तात् ज्ञाताः-परिच्छिन्नाः कर्मबन्धहेतुत्वेन भवन्ति, हुरव-धारणे, मनुते मन्यते वा जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः स एव मुनिर्ज्ञपरिज्ञया परिज्ञातकर्मा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्यातकर्म्मबन्धहेतुभूत-समस्तमनोवाक्कायव्यापार इति, अनेन च मोक्षाङ्गभूते ज्ञानक्रिये उपात्ते

भवतो, न ह्याभ्यां विना मोक्षो भवति, यत् उक्तम्-'**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष**' इति । इतिशब्द एतावानयमात्मपदार्थविचार: कर्मबन्धहेतुविचारश्च सकलोद्देशकेन परिसमापित इति प्रदर्शक:, यदिवा 'इति' एतदहं ब्रवीमि यत्प्रागुक्तं यच्च वक्ष्ये तत्सर्वं भगवदन्तिके साक्षात् श्रुत्वेति शस्त्रपरिज्ञायां प्रथमोद्देशक: समाप्त: ॥

॥ अथ प्रथमाध्ययने द्वितीयोद्देशक: ॥

उक्त: प्रथमोद्देशक: साम्प्रतं द्वितीय: प्रस्तूयते-अस्य चायमभिसम्बन्ध:-प्रथमोद्देशके सामान्येन जीवास्तित्वं प्रसाधितम्, इदानीं तस्यैवेकेन्द्रियादिपृथि-व्याद्यस्तित्वप्रतिपिपादयिषयाऽऽह-यदिवा प्राक् परिज्ञातकर्मत्वं मुनित्वकारणमुपादेशि, य: पुनरपरिज्ञातकर्मत्वान्मुनिर्न भवति-विरतिं न प्रतिपद्यते स पृथिव्यादिषु बम्भ्रमति, अथ क एते पृथिव्यादय इत्यतस्तद्विशेषास्तित्वज्ञापनार्थमिदमुपक्रम्यत इति । अनेनाभिसम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि, यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे पृथिव्युद्देशक इति । तत्रोद्देशकस्य निक्षेपादेरन्यत्र प्रतिपादितत्वान्नेह प्रदर्श्यते, पृथिव्यास्तु यन्निक्षेपादि सम्भवति तन्निर्युक्तिकृद्दर्शयितुमाह-

पुढवीए निक्खेवो परूवणालक्खणं परीमाणं ।
उवभोगो सत्थं वेयणा य वहणा निवित्ती य ॥६८॥

प्राग्जीवोद्देशके जीवस्य प्ररूपणा किं न कृतेत्येतच्च नाशङ्कनीयं, यतो जीवसामान्यस्य विशेषाधारत्वात् विशेषस्य च पृथिव्यादिरूपत्वात् सामान्यजीवस्य चौपभोगादेरसम्भवात् पृथिव्यादिचर्च्चयैव तस्य चिन्तितत्वादिति । तत्र पृथिव्या नामादिनिक्षेपो वक्तव्य:, प्ररूपणा-सूक्ष्मबादरादिभेदा, लक्षणं-साकारानाकारोपयोगकाययोगादिकं, परिमाणं-संवर्त्तितलोकप्रतरासंख्येयभागमात्रादिकम्, उपभोग:- शयनासनचङ्क्रमणादिक:, शस्त्रं-स्नेहाम्लक्षारादि, वेदना-स्वशरीराव्यक्तचेतनानुरूपा सुखदु:खानुभवस्वभावा, वध:-कृतकारितानुमति-

भिरुपमर्द्दनादिकः, निवृत्तिः-अप्रमत्तस्य मनोवाक्कायगुप्त्याऽनुपम-र्द्दादिकेति समासार्थः । व्यासार्थं तु निर्युक्तिकृद्यथाक्रममाह-

नामं ठवणापुढवी दव्वपुढवी य भावपुढवी य ।
एसो खलु पुढवीए निक्खेवो चउविहो होइ ।।६९।।

स्पष्टा, नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्याह-

दव्वं सरीरभविओ भावेण य होइ पुढविजीवो उ ।
जो पुढविनामगोयं कम्मं वेएइ सो जीवो ।।७०।।

द्रव्यपृथिवी आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुप-युक्तः, नोआगमतस्तु पृथिवीपदार्थज्ञस्य शरीरं जीवापेतं तथा पृथिवीपदार्थज्ञत्वेन भव्यो-बालादिस्ताभ्यां विनिर्मुक्तो द्रव्यपृथिवीजीवः-एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्च, भावपृथिवीजीवः पुनर्यः पृथिवीनामादिकर्मोदीर्णं वेदयति । गतं निक्षेपद्वारं, साम्प्रतं प्ररूपणाद्वारम्-

दुविहा य पुढविजीवा सुहुमा तह बायरा य लोगंमि ।
सुहुमा य सव्वलोए दो चेव य बायरविहाणा ।।७१।।

पृथिवीजीवा द्विविधाः-सूक्ष्मा बादराश्च, सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्माः, बादरनामकर्मोदयात्तु बादराः, कर्मोदयजनिते एवेषां सूक्ष्मबादरत्वे न त्वापेक्षिके बदरामलकयोरिव ।। तत्र सूक्ष्माः समुद्गकपर्याप्तप्रक्षिप्तग-न्धावयववत् सर्वलोकव्यापिनः, बादरास्तु मूलभेदाद्द्विविधा इत्याह-

दुविहा बायरपुढवी समासओ सण्हपुढवि खरपुढवी ।
सण्हा य पंचवण्णा अवरा छत्तसइविहाणा ।।७२।।

'समासतः' संक्षेपाद्द्विविधा बादरपृथिवि-श्लक्ष्णबादरपृथिवी खरबादरपृथिवी च, तत्र श्लक्ष्णबादरपृथिवी कृष्णनीललोहितपीत-शुक्लभेदात्पञ्चधा, इह च गुणभेदाद्गुणिभेदोऽभ्युपगन्तव्यः, खरबादर-पृथिव्यास्त्वन्येऽपि षट्त्रिंश-द्विशेषभेदाः सम्भवन्तीति ।। तानाह-

पुढवी य सक्करा वालुगा य उवले सिला य लोणूसे ।
अय तंब तउअ सोसग रुप्प सुवण्णे य वइरे य ।।७३।।

हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजण पवाले ।
अब्भपडलब्भवालुअ बायरकाए मणिविहाणा ।।७४।।
गोमेज्जए य रुयगे अंको फलिहे य लोहियक्खे य ।
मरगय मसारगल्ले भुयमोयग इंदनीले य ।।७५।।
(चंदण गेरुय हंसग भुयमोय मसारगल्ले य प्र.)
चंदप्पह वेरुलिए जलकंते चेव सूरकन्ते य ।
एए खरपुढवीए नामं छत्तीसयं होइ ।।७६।।

अत्र च प्रथमगाथया पृथिव्यादयश्चतुर्दश भेदाः परिगृहीताः, द्वितीयगाथया त्वष्टौ हरितालादयः, तृतीयगाथया दश गोमेदकादयः, तुर्यगाथया चत्वारश्चन्द्रकान्तादयः । अत्र च पूर्वगाथाद्वयेन सामान्यपृथिविभेदाः प्रदर्शिताः, उत्तरगाथाद्वयेन मणिभेदाः प्रदर्शिताः, एताः स्पष्टा इति कृत्वा न विवृताः ।। एवं सूक्ष्मबादरभेदान् प्रतिपाद्य पुनर्वर्णादिभेदेन पृथिवीभेदान् दर्शयितुमाह-

वण्णरसगंधफासे जोणिप्पमुहा भवंति संखेज्जा ।
णेगाइ सहस्साइं हुंति विहाणंमि इक्किक्के ।।७७।।

तत्र वर्णाः शुक्लादयः पञ्च रसास्तिक्तादयः पञ्च गन्धौ सुरभिदुरभी स्पर्शाः मृदुकर्क्कशादयः अष्टौ, तत्र वर्णादिके एकैकस्मिन् 'योनिप्रमुखा' योनिप्रभृतयः संख्येया भेदा भवन्ति, संख्येयस्यानेकरूपत्वाद्विशिष्टसंख्यार्थमाह-अनेकानि सहस्राणि एकैकस्मिन् वर्णादिके 'विधाने' भेदे भवन्ति, योनितो गुणतश्च भेदानामिति । एतच्च सप्तयोनिलक्षप्रमाणत्वात् पृथिव्यां एवं (सं)भाव-नीयमिति । उक्तं च प्रज्ञापनायाम्- 'तत्थ णं जे ते पज्जतगा एएसि णं वण्णादेसेणं गंधादेसेणं रसादेसेणं फासादेसेणं सहस्सग्गसो विहाणाइं संखेज्जाइं जोणिपमुहसयसहस्साइं पज्जत्तयणिस्साए अपज्जत्तया वक्कमंति, तं जत्थेगो तत्थ नियमा असंखेज्जा, से त्तं खरबायरपुढविकाइया' (तत्र ये ते पर्याप्तकाः एतेषां वर्णादेशेन गन्धादेशेन रसादेशेन स्पर्शादेशेन सहस्राग्रशो विधानानि संख्येयानि योनिप्रमुखानि

शतसहस्राणि, प्रर्याप्तकनिश्रयाऽपर्याप्तका व्युत्क्रामन्ति, तद् यत्रैकस्तत्र नियमादसंख्येयाः इत्येते खरबादरपृथ्वीकायिकाः) इह च संवृतयोनयः पृथिविकायिका उक्ताः, सा पुनः सचित्ता अचित्ता मिश्रा वा, तथा पुनश्च शीता उष्णा शीतोष्णा वेत्येवमादिका द्रष्टव्येति ।। एतदेव भूयो निर्युक्तिकृत् स्पष्टतरमाह–

वण्णमि य इक्किक्के गंधंमि रसंमि तह य फासंमि ।

नाणत्ती कायव्वा विहाणए होइ इक्किक्कं ।।७८।।

वर्णादिके एकैकस्मिन 'विधाने' भेदे सहस्राग्रशो नानात्वं विधेयं. तथाहि–कृष्णो वर्ण इति सामान्यं, तस्य च भ्रमराङ्गारकोकिल–गवलकज्जलादिषु प्रकर्षाप्रकर्षविशेषाद्भेदः कृष्णः कृष्णतरः कृष्णतम इत्यादि, एवं नीलादिष्व–प्यायोज्यं, तथा रसगन्धस्पर्शेषु सर्वत्र पृथिवीभेदा वाच्याः, तथा वर्णादीनां परस्परसंयोगाद्धूसरकेसरकर्बुरादिवर्णा–न्तरोत्पत्तिरेवमुत्प्रेक्ष्य वर्णादीनां प्रत्येकं प्रकर्षाप्रकर्षतया परस्परानुवेधेन च बहवो भेदा वाच्याः ।। पुनरपि पर्याप्तकादि–भेदाद्भेदमाह–

जे बायरे विहाणा पज्जत्ता तत्तिआ अपज्जत्ता ।

सुहुमावि हुंति दुविहा पज्जत्ता चेव अपज्जत्ता ।।७९।।

यानि बादरपृथिवीकाये 'विधानानि' भेदाः प्रतिपादितास्तानि यावन्ति पर्याप्तकानां तावन्त्येवापर्याप्तकानामपि, अत्र च भेदानां तुल्यत्वं द्रष्टव्यं न तु जीवानां, यत एकपर्याप्तकाश्रयेणासंख्येया अपर्याप्तका भवन्ति, सूक्ष्मा अपि पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन द्विविधा एव, किन्तु अपर्याप्तकनिश्रया पर्याप्तकाः समुत्पद्यन्ते, यत्र चैकोऽपर्याप्तकस्तत्र नियमादसंख्येयाः पर्या–प्तकाः स्युः । पर्याप्तिस्तु 'आहारसरीरिन्दियऊसासवओमणीऽहिनिव्वत्ती । होति जतो दलियाओ करणं पइ सा उ पज्जत्ती ।।१।।' (आहारः शरीरमिन्द्रियाणि उच्छ्वासो वचः मन; अभिनिर्वृत्तिः भवति यतो दलिकात् करणं प्रति सैव पर्याप्तिः ।।१ ।।) जन्तुरुत्पद्यमानः पुद्गलोपादानेन करणं निवर्त्तयति तेन च करणविशेषेणाहारमवगृह्य पृथग् खलरसादिभावेन

परिणतिं नयति स तादृक्करणविशेष आहारपर्याप्तिशब्देनोच्यते, एवं शेषपर्याप्तयोऽपि वाच्याः तत्रैकेन्द्रियाणामाहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासाभिधानाश्चतस्रो भवन्ति, एताश्चान्तर्मुहूर्त्तेन जन्तुरादत्ते, अनाप्तपर्याप्तिरपर्याप्तकोऽवाप्तपर्याप्तिस्तु पर्याप्तक इति, अत्र च पृथिव्येव कायो येषामिति विग्रहः ।। यथा सूक्ष्मबादरादयो भेदाः सिद्ध्यन्ति तथा प्रसिद्धभेदेनोदाहरणेन दर्शयितुमाह-

रुक्खाणं गुच्छाणं गुम्माणं लयाणं वल्लिवलयाणं ।
जह दीसइ नाणत्तं पुढवीकाए तहा जाण ।।८०।।

यथा वनस्पतेर्वृक्षादिभेदेन स्पष्टं नानात्वमुपलभ्यते, तथा पृथिवीकायिकेऽपि जानीहि, तत्र वृक्षाः-चूतादयो गुच्छावृन्ताकीसल्लकीकर्प्पास्यादयः, गुल्मानि-नवमालिकाकोरण्टकादीनि, लताः-पुन्नागाशोकलताद्याः, वल्लयः-त्रपुषी-वालुङ्कीकोशातक्याद्याः वलयानि-केतकीकदल्यादीनि ।। पुनरपि वनस्पतिभेददृष्टान्तेन पृथिव्या भेदमाह-

ओसहि तण सेवाले पणगविहाणे य कंद मूले य ।
जह दीसइ नाणत्तं पुढवीकाए तहा जाण ।।८१।।

यथा हि वनस्पतिकायस्य औषध्यादिको भेद एवं पृथिव्या अपि द्रष्टव्यः, तत्र ओषध्यः-शाल्याद्याः, तृणानि-दर्भादीनि, सेवालं-जलोपरि मलरूपं, पनकः-काष्ठादावुल्लीविशेषः पञ्चवर्णः, कन्द-सूरणकन्दादिः, मूलम्-उशीरादीति ।। एते च सूक्ष्मत्वान्नैकद्व्यादिकाः समुपलभ्यन्ते, यत्संख्यास्तूपलम्भ्यन्ते तद्दर्शयितुमाह-

इक्कस्स दुण्ह तिण्ह व संखिज्जाण व न पासिउं सक्का ।
दीसंति सरीराइं पुढविजियाणं असंखाणं ।।८२।।

स्पष्टा ।। कथं पुनरिदमवगन्तव्यम् ? सन्ति पृथिवीकायिका इति, उच्यते, तदधिष्ठितशरीरोपलब्धेः अधिष्ठातरि प्रतीतिर्गवाश्वादाविव इति, एतद्दर्शयितुमाह-

एएहिं सरीरेहिं पच्चक्खं ते परूविया हुंति ।
सेसा आणागिज्झा चक्खुफासं न जं इंति ।।८३।।

'एभिः' असंख्येयतयोपलभ्यमानैः पृथिवीशर्करादिभेदभिन्नैः शरीरैस्ते शरीरिणः शरीरद्वारेण 'प्रत्यक्षं' साक्षात् 'प्ररूपिताः' ख्यापिता भवन्ति, शेषास्तु सूक्ष्मा आज्ञाग्राह्या एव द्रष्टव्याः, यतस्ते चक्षुःस्पर्शं नागच्छन्ति, स्पर्शशब्दो विषयार्थः ।। प्ररूपणाद्वारानन्तरं लक्षणद्वारमाह-

उवओगजोग अज्झवसाणे मइसुय अचक्खुदंसे य ।
अट्ठविहोदयलेसा सन्नुस्सासे कसाया य ।।८४।।

तत्र पृथिवीकायादीनां स्त्यानर्घ्याद्युदयाद्या च यावती चोपयोगशक्तिरव्यक्ता ज्ञानदर्शनरूपेत्येवमात्मक उपयोगो लक्षणं, तथा योगः-कायाख्य एक एव, औदारिकतन्मिश्रकार्म्मणात्मको वृद्धयष्टिकल्पो जन्तोः सकर्मकस्यालम्बनाय व्याप्रियते, तथा अध्यवसायाः-सूक्ष्मा आत्मनः परिणामविशेषाः, ते च लक्षणम्, अव्यक्तचैतन्यपुरुषमनः समुद्भूतचिन्ताविशेषा इवानभिलक्ष्यास्तेऽभिगन्तव्याः, तथा साकारोपयोगान्तःपातिमतिश्रुताज्ञानसमन्विताः पृथिवीकायिका बोद्धव्याः, तथा स्पर्शनेन्द्रियेणाचक्षुर्दर्शनानुगता बोद्धव्याः, तथा ज्ञानावरणीयाद्यष्टविध-कर्मोदयभाजस्तावद्बन्धभाजश्च, तथा लेश्या-अध्यवसायविशेषरूपाः कृष्णनीलकापोततैजस्यश्चतस्रः ताभिरनुगताः, तथा दशविधसंज्ञानुगताः, ताश्च आहारादिकाः प्रागुक्ता एव, तथा सूक्ष्मोच्छ्वासनिःश्वासानुगताः, उक्तं च-'पुढविकाइया णं भंते ! जीवा आणवन्ति वा पाणवन्ति वा ऊससन्ति वा नीससंति वा ? गोयमा ! अविरहियं सतयं चेव आणवन्ति वा पाणवन्ति वा ऊससन्ति वा नीससन्ति वा'(पृथ्वीकायिका भदन्त ! जीवा आनन्ति वा प्राणन्ति वा उच्छ्वसन्ति वा श्रिः श्वसन्ति वा ?, गौतम ! अविरहितं सततमेव चानन्ति वा प्राणन्ति वा उच्छ्वसन्ति वा निःश्वसन्ति वा ।) कषाया अपि सूक्ष्माः क्रोधादयः । एवमेतानि जीलक्षणान्युपयोगादीनि कषायपर्यवसानानि पृथिवीकायिकेषु सम्भवन्तीति, ततश्चैवंविधजीवलक्षणकलापसमनुगत्वात् मनुष्यवत्सचित्ता पृथिवीति । ननु च तदिदमसिद्धमसिद्धेन साध्यते, तथाहि-न ह्युपयोगादीनि लक्षणानि

पृथिवीकायेषु व्यक्तानि समुपलक्ष्यन्ते, सत्यमेतद्, अव्यक्तानि तु विद्यन्ते, यथा कस्यचित्पुंसः हृत्पूरकव्यतिमिश्रमदिरातिपानपित्तोदयाकुलीकृतान्तःकरणविशेषस्याव्यक्ता चेतना, न चैतावता तस्याचिद्रूपता, एवमत्राप्यक्तचेतनासम्भवोऽभ्युपगन्तव्यः, ननु चात्रोच्छ्वासादिकमव्यक्तचेतनालिङ्गमस्ति, न चेह तथाविधं किञ्चिच्चेतनालिङ्गमस्ति, नैतदेवम्, इहापि समानजातीयलतोद्भेदादिकमर्शोमांसाङ्कुरवच्चेतनाचिह्नमस्त्येव, अव्यक्तचेतनानां हि सम्भावितैकचेतनालिङ्गानां वनस्पतीनामिव चेतनाऽभ्युपगन्तव्येति, वनस्पतेश्च चैतन्यं विशिष्टर्तुपुष्पफलप्रदत्वेन स्पष्टं साधयिष्यते च, ततोऽव्यक्तो-पयोगादिलक्षणसद्भावात् सचित्ता पृथिवीति स्थितम् ।। ननु चाश्मलतादेः कठिनपुद्गलात्मिकायाः कथं चेतनत्वमित्यत आह-

अट्ठी जहा सरीरंमि अणुगयं चेयणं खरं दिट्ठं ।
एवं जीवाणुगयं पुढविसरीरं खरं होइ ।।८५।।

यथाऽस्थि शरीरानुगतं सचेतनं खरं दृष्टम्, एवं जीवाणुगतं पृथिवीशरीरमपीति ।। साम्प्रतं लक्षणद्वारानन्तरं परिमाणद्वारमाह-

जे बायरपज्जत्ता पयरस्स असंखभागमित्ता ते ।
सेसा तिन्निवि रासी वीसुं लोया असंखिज्जा ।।८६।।

तत्र पृथिवीकायिकाश्चतुर्द्धा, तद्यथा-बादराः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च तथा सूक्ष्मा अपर्याप्ताः पर्याप्ताश्च, तत्र ये बादराः पर्याप्तकास्ते संवर्त्तिलोकप्रतरासंख्येयभागमात्रवर्त्तिप्रदेशराशिप्रमाणा भवन्ति, शेषास्तु त्रयोऽपि राशयः प्रत्येकमसंख्येयानां लोकानामाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा भवन्ति, यथानिर्द्दिष्टक्रमेण चैते यथोत्तरं बहुतराः, यत उक्तम्- 'सव्वत्थोवा बादरपुढविकाइया पज्जत्ता, बादरपुढविकाइया अपज्जत्ता असंखेज्जगुणा सुहुमपुढविकाइया अप-ज्जत्ता असंखेज्जगुणा सुहुमपुढविकाइया पज्जत्ता असंखेज्जगुणा' ।। (सर्वस्तोका बादरपृथ्वीकायिकाः पर्याप्ताः बादरपृथ्वीकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः सूक्ष्मपृथ्वीकायिकाः अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः सूक्ष्मपृथ्वीकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः ।)

प्रकारान्तरेणापि राशित्रयस्य परिमाणं दर्शयितुमाह-

पत्थेण व कुडवेण व जह कोइ मिणिज्ज सव्वधन्नाइं ।
एवं मविज्जमाणा हवंति लोया असंखिज्जा ॥८७॥

यथा प्रस्थादिना कश्चित्सर्वधान्यानि मिनुयाद्, एवमसद्भाव-प्रज्ञापनाङ्गीकरणाल्लोकं कुडवीकृत्याजघन्योत्कृष्टावगाहनान् पृथिवीका-यिकजीवान् यदि मिनोति ततोऽसंख्येयान् लोकान् पृथिवीकायिकाः पूरयन्ति ॥ पुनरपि प्रकारान्तरेण परिमाणमाह-

लोगागासपएसे इक्किक्कं निक्खिवे पुढविजीवं ।
एवं मविज्जमाणा हवंति लोआ असंखिज्जा ॥८८॥

स्पष्टा ॥ साम्प्रतं कालतः प्रमाणं निर्दिदिक्षुः क्षेत्रकालयोः सूक्ष्मबादरत्वमाह-

निउणो उ होइ कालो तत्तो निउणयरयं हवइ खित्तं ।
अंगुलसेढीमित्ते ओसप्पिणीओ असंखिज्जा ॥८९॥

'निपुणः' सूक्ष्मः 'कालः' समयात्मकः, ततोऽपि सूक्ष्मतरं क्षेत्रं भवति, यतोऽङ्गुलीश्रेणीमात्रक्षेत्रप्रदेशानां समयापहारेणासंख्येया उत्सर्प्पि-ण्यवसर्प्पिण्योऽपक्रामन्तीत्यतः कालात् क्षेत्रं सूक्ष्मतरम् ॥ प्रस्तुतं कालतः परिमाणं दर्शयितुमाह-

अणुसमयं च पवेसो निक्खमणं चेव पुढविजीवाणं ।
काए कायट्ठिइया चउरो लोया असंखिज्जा ॥९०॥

तत्र जीवाः पृथिवीकायेऽनुसमयं प्रविशन्ति निष्क्रामन्ति च, एकस्मिन् समये कियतां निष्क्रमः प्रवेशश्च १-२, तथा विवक्षिते च समये कियन्तः पृथिवीकायपरिणताः सम्भवन्ति ३, तथा कियती च कायस्थिति ४ रित्येते चत्वारो विकल्पाः कालतोऽभिधीयन्ते, तत्रासं-ख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणाः समयेनोत्पद्यन्ते विनश्यन्ति च, पृथिवीत्वेन परिणता अप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणाः, तथा कायस्थितिरपि मृत्वा मृत्वाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणं कालं तत्र तत्रोत्पद्यन्त इति, एवं

क्षेत्रकालाभ्या परिमाण प्रतिपाद्य परस्परावगाहप्रतिपादयिषयाऽऽह-

बायरपुढविक्काइयपज्जत्तो अन्नमन्नमोगाढो ।
सेसा ओगाहंते सुहुमा पुण सव्वलोगंमि ।।९१।।

बादरपृथिवीकायिक: पर्याप्तो यस्मिन्नकाशखण्डे अवगाढ: तस्मिन्नेवाकाशखण्डेऽपरस्यापि बादरपृथिवीकायिकस्य शरीरमवगाढमिति, शेषास्तु अपर्याप्तका: पर्याप्तकनिश्रया समुत्पद्यमाना अनन्तरप्रकियया पर्याप्तकावगाढाकाशप्रदेशावगाढा: सूक्ष्मा: पुन: सर्वस्मिन्नपि लोकेऽवगाढा इति ।। उपभोगद्वारमाह-

चंकमणे य ट्ठाणे निसीयण तुयट्टणे य कयकरणे ।
उच्चारे पासवणे उवगरणाणं च निक्खिवणे ।।९२।।
आलेवण पहरण भूसणे य कयविक्कए किसीए य ।
भंडाणंपि य करणे उवभोगविही मणुस्साण ।।९३।।

चङ्क्रमणोद्ध्र्वस्थाननिषीद-नत्वग्वर्त्तनकृतकपुत्रककरण-उच्चारप्रश्रवणउपकरणनिक्षेपआलेपनप्रहरण- भूषणक्रयविक्रयकृषीकरण-भण्डक-घट्टनादिषूपभोगविधिर्मनुष्याणां पृथिवीकायेन भवतीति ।। यद्येवं ततः किमित्यत आह-

एएहिं कारणेहिं हिंसंति पुढविकाइए जीवे ।
सायं गवेसमाणा परस्स दुक्खं उदीरंति ।।९४।।

एभिश्चङ्क्रमणादिभि: कारणै: पृथिवीजीवान् हिंसन्ति, किमर्थमिति दर्शयति-'सातं' सुखमात्मनोऽन्वेषयन्त: परदु:खान्यजानाना: कतिपयदिवसरमणीयभोगाशाकर्षितसमस्तेन्द्रियग्रामा विमूढचेतस इति 'परस्य' पृथिव्याश्रितजन्तुराशे: 'दु:खम्' असातलक्षणं तदुदीरयन्ति-उत्पादयन्तीति, अनेन भूदानजनित: शुभफलोदय: प्रत्युक्त इति ।। अधुना शस्त्रद्वारं-शस्यतेऽनेनेति शस्त्रं, तच्च द्विधा-द्रव्यशस्त्रं भावशस्त्रं च, द्रव्यशस्त्रमपि समासविभागभेदाद्द्विधैव, तत्र समासद्रव्यशस्त्रप्रतिपादनायाह-

हलकुलिय-विसकुद्दालालित्तय-मिगसिंग-कट्ठमग्गी य ।

उच्चारे पासवणे एय तु समासओ सत्थं ।।९५।।

तत्र हलकुलिकविषकुद्दालालि–त्रकमृगश्रृङ्गकाष्ठाग्न्युच्चार–प्रश्रवणादिकमेतत् 'समासतः' संक्षेपतो द्रव्यशस्त्रम् ।। विभागद्रव्यशस्त्रप्रतिपादनायाह–

किंची सकायसत्थं किंची परकाय तदुभयं किंचि ।
एयं तु दव्वसत्थ भावे अ असंजमो सत्थं ।।९६।।

किञ्चित्स्वकायशस्त्रं पृथिव्येव पृथिव्याः, किञ्चित्परकायशस्त्रमुदकादि, तदुभयं किञ्चिदिति भूदकं मिलितं भुव इति । तच्च सर्वमपि द्रव्यशस्त्रं, भावे पुनः 'असंयमः' दुष्प्रयुक्ता मनोवाक्कायाः शस्त्रमिति ।। वेदनाद्वारमाह–

पायच्छेयण भेयण जंघोरु तहेव अंगुवंगेसुं ।
जह हुंति नरा दुहिया पुढविक्काए तहा जाण ।।९७।।

यथा पादादिकेष्वङ्गप्रत्यङ्गेषु छेदनभेदादिकया क्रियया नराः दुःखिताः, तथा पृथिवीकायेऽपि वेदनां जानीहि ।। यद्यपि पादशिरोग्रीवादीन्यङ्गानि पृथिवीकायिकानां न सन्ति तथापि तच्छेदनानुरूपा वेदनाऽस्त्येवेति दर्शयितुमाह–

नत्थि य सिअंगुवंगा तयाणुरूवा य वेयणा तेसिं ।
केसिंचि उदीरंती केसिं चऽतिवायए पाणे ।।९८।।

पूवार्द्धं गतार्थं, केषाञ्चित्पृथिवीकायिकानां तदारम्भिणः पुरुषा वेदनामुदीरयन्ति, केषाञ्चित्तु प्राणानप्यतिपातयेयुरिति । तथा हि भगवत्यां दृष्टांत उपात्तो यथा–चतुरन्तचक्रवर्त्तिनो गन्धपेषिका यौवनवर्त्तिनी बलवती आर्द्रामलकप्रमाणं सचित्तपृथिवीगोलकमेकविंशतिकृत्वो गन्धपट्टके कठिनशिलापुत्रकेन पिंष्यात्, ततस्तेषां पृथिवीजीवानां कश्चित्सङ्घट्टितः कश्चित्परितापितः कश्चिद्व्यापादितोऽपरः किल तेन शिलापुत्रकेण न स्पृष्टोऽपीति ।। वधद्वारमाह–

पवयंति य अणगारा ण य तेहि गुणेहिं जेहिं अणगारा ।
पुढविं विहिंसमाणा न हु ते वायाहि अणगारा ।।९९।।

इह ह्येके कुतीर्थिका यतिवेषमास्थाय एवं च प्रवदन्ति-वयम् 'अनगाराः' प्रव्रजिताः, न च 'तेषु गुणेषु' निरवद्यानुष्ठानरूपेषु प्रवर्त्तन्ते, येष्वनगाराः, यथा चानगारगुणेषु न प्रवर्त्तन्ते तद्दर्शयति-यतस्तेऽहर्निशं पृथिवीजन्तुविपत्तिकारिणो दृश्यन्ते गुदपाणिपादप्रक्षालनार्थम्, अन्यथापि निर्लेपनिर्गन्धत्वं कर्तुं शक्यम्, अतश्च यतिगुणकलापशून्या न वाङ्मात्रेण युक्तिनिरपेक्षेणानगारत्वं बिभ्रतीति, अनेन प्रयोगः सूचितः, तत्र गाथापूर्वार्द्धेन प्रतिज्ञा, पश्चार्द्धेन हेतुः, उत्तरगाथार्द्धेन साधर्म्यदृष्टान्तः स चायं प्रयोगः-कुतीर्थिका यत्यभिमानवादिनोऽपि यतिगुणेषु न प्रवर्त्तन्ते, पृथिवीहिंसाप्रवृत्तत्वाद्, इह ये ये पृथिवीहिंसाप्रवृत्तास्ते ते यतिगुणेषु न प्रवर्त्तन्ते, गृहस्थवत् ।। साम्प्रतं दृष्टान्तगर्भं निगमनमाह-

अणगारवाइणो पुढविहिंसगा निग्गुणा अगारिसमा ।
निद्दोसत्ति य मइला विरइदुगंछाइ मइलतरा ।।१००।।

'अनगारवादिनो' वयं यतय इति वदनशीलाः पृथिवीकायविहिंसकास्सन्तो निर्गुणा यतोऽतः 'अगारिसमा' गृहस्थतुल्या भवन्ति, अभ्युच्चयमाह-सचेतना पृथिवीत्येवं ज्ञानरहितत्वेन तत्सारम्भवर्त्तिनः सदोषा अपि सन्तो वयं निर्दोषा इत्येवं मन्यमानाः स्वदोषप्रेक्षाविमुखत्वात् 'मलिनाः' कलुषितहृदयाः, पुनश्चातिप्रगल्भतया साधुजनाश्रिताया निरवद्यानुष्ठानात्मिकाया विरतेः 'जुगुप्सया' निन्दया मलिनतरा भवन्ति, अनया च साधुनिन्दयाऽनन्तसंसारित्वं प्रदर्शितं भवतीति ।। एतच्च गाथाद्वयं सूत्रोपात्तार्थानुसार्यपि वधद्वारावसरे निर्युक्तिकृताऽभिहितं, तस्य स्वयमेवोपात्तत्वेन तद्व्याख्यानस्य न्याय्यत्वात्, तच्चेदं सूत्रम् 'लज्जमाणा पुढो पास अरगारा मोत्ति एगे पवयमाणे'त्यादि ।। अयं च वधः कृतकारितानुमतिभिर्भवतीति तदर्थमाह-

केई सयं वहंति केई अन्नेहिं उ वहाविंती ।
केई अणुमन्नंती पुढविकायं वहेमाणा ।।१०१।।

स्पष्टा, तद्वधे अन्येषामपि तदाश्रितानां वधो भवतीति

दर्शयितुमाह-

जो पुढवि समारंभइ अन्नेऽवि य सो समारभइ काए ।
अनियाए अ नियाए दिस्से य तहा अदिस्से य ।।१०२।।

य: पृथ्वीकायं 'समारभते' व्यापादयति स: 'अन्यानपि' अप्कायद्वीन्द्रियादीन् 'समारभते' व्यापादयति उदुम्बरवटफलभक्षणप्रवृत्त: तत्फलान्त: प्रविष्टत्रसजन्तुभक्षणवदिति, तथा 'अणियाए य नियाइ'त्ति अकारणेन कारणेन च, यदिवाऽसङ्कल्पेन सङ्कल्पेन च पृथिवीजन्तून् समारभते तदारम्भवांश्च 'दृश्यान्' दर्दुरादीन् 'अदृश्यान्' पनकादीन् 'समारभते' व्यापादयतीत्यर्थ: ।। एतदेव स्पष्ट-तरमाह-

पुढविं समारभंता हणंति तन्निसिए य बहुजीवे ।
सुहुमे य बायरे य पज्जत्ते य अपज्जत्ते ।।१०३।।

स्पष्टा, अत्र च सूक्ष्माणां वध: परिणामाशुद्धत्वात्तद्विषयनिवृत्त्यभावेन द्रष्टव्य इति ।। विरतिद्वारमाह-

एयं वियाणिऊणं पुढवीए निक्खिवंति जे दंडं ।
तिविहेण सव्वकालं मणेण वायाए काएणं ।।१०४।।

'एवमि'त्युक्तप्राकारानुसारेण पृथिवीजीवान् विज्ञाय तद्वधं बन्धं च विज्ञाय पृथिवीतो निक्षिपन्ति ये दण्ड-पृथिवीसमारम्भाद्व्युपरमन्ति, ते ईदृक्षा अनगारा भवन्तीत्युत्तरगाथायां वक्ष्यति, 'त्रिविधेने'ति कृतकारितानुमतिभि: 'सर्वकालं' यावज्जीवमपि मनसा वाचा कायेनेति ।। अनगारभवने उक्तशेषमाह-

गुत्ता गुत्तीहिं सव्वाहिं समिया समिईहिं संजया ।
जयमाणगा सुविहिया एरिसया हुंति अणगारा ।।१०५।।

तिसृभिर्मनोवाक्कायगुप्तिभिर्गुप्ता:, तथा पञ्चभिरीर्यासमित्यादिभिस्समिता:, सम्यक्-उत्थानशयनचङ्क्रमणादिक्रियासु यता: संयता: 'यतमाना:' सर्वत्र प्रयत्नकारिण:, शोभनं विहितं-सम्यग्दर्शनाद्यनुष्ठानं येषां ते तथा, ते ईदृक्षा: अनगारा भवन्ति, न तु पूर्वोक्तगुणा: पृथिवी-

कायसमारम्भिण: शाक्यादय इति ।। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेप:, अधुना सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चार्यते, तच्चेदं-

अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए अस्सिं लोए पव्वहिए तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति ।। सू०१४।।

अस्य चायमभिसम्बन्ध:-इहानन्तरसूत्रे परिज्ञातकर्मा मुनिर्भवतीत्युक्तं, यस्त्वपरिज्ञातकर्मा स भावार्त्तो भवतीति, तथाऽऽदिसूत्रेण सह सम्बन्ध:-सुधर्मस्वामी जम्बूनाम्ने इदमाचष्टे-'श्रुतं मया' किं तच्छ्रुतं ? पूर्वोद्देशकार्थं प्रदर्श्येदमपीति, 'अट्टे'इत्यादि, परम्परसम्बन्धस्तु 'इहं एगेसिं णो सन्ना भवती'त्युक्तं, कथं पुन: संज्ञा न भवतीति, आर्त्तत्वात्, तदाह-'अट्टे'इत्यादि, आर्तो नामादिश्चतुर्द्धा, नामस्थापने क्षुण्णे, ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तो नोआगमतो द्रव्यार्त्त: शकटादिचक्राणामुद्धिमूले वा यो लोहमय: पट्टो दीयते स द्रव्यार्त्त:, भावार्त्तस्तु द्विधा-आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतो ज्ञाता-आर्त्तपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तो, नोआगमतस्तु औदयिकभाववर्ती रागद्वेषग्रहपरिगृहीतान्तरात्मा प्रियविप्रयोगादिदु:खसङ्कटनिमग्नो भावार्त्त इति व्यपदिश्यते, अथवा शब्दादिविषयेषु विषविपाकसदृशेषु तदाकाङ्क्षित्वाद्धिताहितविचारशून्यमना भावार्त्त: कर्मोपचिनोति, यत उक्तम् च-'सोइंदियवसट्टे णं भंते ! जीवे किं बंधइ ? किं चिणाइ ? किं उवचिणाइ ? गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ घणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, जाव अणादियं च णं अणवदग्गं दीहमद्ध चाउरन्तसंसारकन्तारमणुपरियट्टइ' (श्रोत्रेन्द्रियवशार्त्तो भदन्त ! जीव: किं बध्नाति ? किं चिनोति ? किमुपचिनोति ?, गौतम ! अष्ट कर्मप्रकृती: शिथिलबन्धबद्धा गाढबन्धनबद्धा: प्रकरोति, यावदनादिकमनवनताग्रं दीर्घाध्वानं चातुरन्तसंसारकान्तारमनुपर्यटति ।) एवं स्पर्शनादिष्वप्यायोजनीयम्, एवं क्रोधमानमायालोभदर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयादिभिर्भावार्त्ता: संसारिणो जीवा इति, उक्तं च'रागद्दोसकसाएहिं, इंदिएहि य पञ्चहिं । दुहा वा मोहणिज्जेण, अट्टा संसारिणो जिया

।।१।।' (रागद्वेषकषायैरिन्द्रियैश्च पञ्चभिः । द्विधा मोहनीयेन वा आर्त्ताः संसारिणो जीवाः ।।१।।) यदि वा ज्ञानावरणीयादिना शुभाशुभेनाष्टप्रकारेण कर्म्मणाऽऽर्त्तः, कः पुनरेवंविध इत्यत्राह–लोकयतीति लोकः–एकद्वित्रि–चतुष्पञ्चेन्द्रियजीवराशिरित्यर्थः, अत्र लोकशब्दस्य नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्र–कालभवभावपर्यायभेदादष्टधा निक्षेपं प्रदर्श्याप्रशस्तभावोदयवर्त्तिना लोकेनेहाधिकारो वाच्यः, यस्माद्यावानार्त्तः स सर्वोऽपि परिद्यूनो नाम परिपेलवो निस्सारः औपशमिकादिप्रशस्तभावहीनोऽव्यभिचारिमोक्ष–साधनहीनो वेति, स च द्विधाद्रव्यभावभेदात्, तत्र सचित्तद्रव्यपरिद्यूनो जीर्णशरीरः स्थविरकः जीर्णवृक्षो वा, अचित्तद्रव्यपरिद्यूनो जीर्णपटादिः, भावपरिद्यून औदयिकभावोदयात्प्रशस्तज्ञानादिभावविकलः, कथं विकलः?, अनन्तगुणपरिहाण्या, तथाहि–पञ्चचतुस्त्रिद्व्येकेन्द्रियाः क्रमशो ज्ञानविकलाः, तत्र सर्वनिकृष्टज्ञानाः सूक्ष्मनिगोदापर्य्याप्तकाः प्रथम–समयोत्पन्ना इति, उक्तं च–'सर्वनिकृष्टो जीवस्य दृष्ट उपयोग एष वीरेण । सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकानां स च भवति विज्ञेयः ।।१।। तस्मात्प्रभृति ज्ञानविवृद्धिर्दृष्टा जिनेन जीवानाम् । लब्धिनिमित्तैः करणैः कायेन्द्रि–यवाङ्मनोदृग्भिः ।।२।।' स च विषयकषायार्त्तः प्रशस्तज्ञानद्यूनः किमवस्थो भवतीति दर्शयति–'दुस्संबोध' इति, दुःखेन सम्बोध्यते–धर्मचरणप्रतिपत्तिं कार्यत इति दुस्सम्बोधो, मेतार्यवदिति, यदि वा दुस्सम्बोधो यो बोधयितुमशक्यो ब्रह्मदत्तवत्, किमित्येवम् ?, यतः 'अवियाणए'त्ति विशिष्टावबोधरहितः, स चैवंविधः किं विदध्यादित्याह–'अस्मिन्' पृथिवीकायलोके 'प्रव्यथिते' प्रकर्षेण व्यथिते, सर्वस्यारम्भस्य तदाश्रयत्वादिति प्रकर्षार्थः, तत्तत्प्रयोजनतया खननादिभिः पीडिते नानाविधशस्त्राद्भीते वा 'व्यथ भयचलनयो'रितिकृत्वा व्यथितं भीत–मिति, 'तत्थ तत्थे'ति तेषु तेषु कृषिखननगृहकरणादिषु 'पृथग्'विभिन्नेषु कार्येषूत्पन्नेषु 'पश्ये'ति विनेयस्य लोकाकार्यप्रवृत्तिः प्रदर्श्यते, सिद्धान्तशैल्या एकादेशेऽपि प्राकृते बह्वादेशो भवतीति, 'आतुरा'

विषयकषायादिभिः 'अस्मिन्' पृथिवीकाये विषयभूते सामर्थ्यात् पृथीविकायं 'परितापयन्ति' परिसमन्ता त्तापयन्तिपीडयन्तीत्यर्थः, बहुवचननिर्देशस्तु तदारम्भिणां बहुत्वं गमयति, यदिवालोकशब्दः प्रत्येकभिसम्बध्यते, कश्चिल्लोको विषयकषायादिभिरार्त्तोऽपरस्तु कायपरिजीर्णः कश्चिद्दुःखसम्बोधः (कश्चित्तु अपरो दुःसम्बोधः नास्तीदं प्र० ।) तथाऽपरो विशिष्टज्ञानरहितः, एते सर्वेऽप्यातुरा विषयजीर्णदेहादिभिः सुखाप्तयेऽस्मिन्-पृथिवीकायलोके विषयभूते पृथीविकायं नानाविधैरुपायैः 'परितापयन्ति' परि-समन्तात्तापयन्ति-पीडयन्तीति सूत्रार्थः ।।१४।। ननु चैकदेवताविशेषावस्थिता पृथिवीति शक्यं प्रतिपत्तुं न पुनरसंख्येयजीवसङ्घातरूपेत्येत्परिहर्त्तुकाम आह-

संति पाणा पुढो सिया लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणो अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ।

'सन्ति' विद्यन्ते 'प्राणाः' सत्त्वा 'पृथग्' पृथग्भावेन, अङ्गुलासंख्येयभागस्वदेहावगाहनया पृथिव्याश्रिताः सिता वा-सम्बद्धा इत्यर्थः, अनेनैतत्कथयति नैकदेवता पृथिवी, अपि तु प्रत्येकशरीरपृथिवीकायात्मिकेति, तदेवं सचेतनत्वमनेकजीवाधिष्ठितत्वं च पृथिव्या आविष्कृतं भवतीति । एतच्च ज्ञात्वा तदारम्भनिवृत्तान् दर्शयितुमाह- 'लज्जमाणा पुढो पास'त्ति, लज्जा द्विविधा-लौकिकी लोकोत्तरा च, तत्र लौकिकी स्नुषासुभटादेः श्वशुरसङ्ग्रामविषया, लोकोत्तरा सप्तदशप्रकारः संयमः, तदुक्तम्- 'लज्जा दया संजम बंभचेर'मित्यादि, लज्जमानाः-संयमानुष्ठानपराः, यदिवापृथिवीकायसमारम्भरूपादसंयमानुष्ठानाल्लज्जमानाः 'पृथगि'ति प्रत्यक्षज्ञानिनः परोक्षज्ञानिनश्च, अतस्तान् लज्जमानान् पश्येत्यनेन शिष्यस्य कुशलानुष्ठानप्रवृत्तिविषयः प्रदर्शितो भवतीति । कुतीर्थिकास्त्वन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयितुमाह-'अणगारा' इत्यादि, न विद्यतेऽगारं-गृहमेषामित्यनगारा-यतयः स्मो वयमित्येवं प्रकर्षेण वदन्तः

प्रवदन्त इति, 'एके' शाक्यादयो ग्राह्या:, ते च वयमेव जन्तुरक्षणपरा: क्षपितकषायाज्ञानतिमिरा 'इति' एवमादि प्रतिज्ञामात्रमनर्थकमारटन्ति, यथा-कश्चिदत्यन्तशुचिर्वोद्रश्चतु:षष्टिमृत्तिकास्नायी गोशवस्याशुचितया परित्यागं विधाय पुन: कर्मकरवाक्याच्चर्मास्थिपिशितस्नाय्वादेर्यथास्व-मुपयोगार्थं सङ्ग्रहं कारितवान्, तथा च तेन शुच्यभिमानमुद्वहताऽपि किं तस्य परित्यक्तम् ?, एवमेतेऽपि शाक्यादयोऽनगारावादमुद्वहन्ति, न चानगारगुणेषु मनागपि प्रवर्त्तन्ते, न च गृहस्थचर्या मनागप्यतिलङ्घयन्तीति दर्शयति-'यद्' यस्माद् 'इम'मिति सर्वजनप्रत्यक्षं पृथिवीकायं 'विरूपरूपै:' नानाप्रकारै: 'शस्त्रै:' हलकुद्दालखनित्रादिभि: पृथिव्याश्रयं कर्म्मक्रियां समारंभमाणा विहिंसन्ति, तथाऽनेन च पृथिवीकर्मसमारम्भेण पृथिवीशस्त्रं 'समारंभमाणो' व्यापारयन् पृथिवीकायं नानाविधै: शस्त्रैर्व्यापादयन् 'अनेकरूपान्' तदाश्रितानुदकवनस्पत्यादीन् विविधं हिनस्ति, नानाविधै-रुपायैर्व्यापादयतीत्यर्थ:, एवं शाक्यादीनां पार्थिवजन्तु-वैरिणामयतितत्वं प्रतिपाद्य साम्प्रतं सुखाभिलाषितया कृतकारितानुमतिभिर्मनोवाक्कायलक्षणां प्रवृत्तिं दर्शयितुमाह-

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवि-यस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं स सयमेव पुढविसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारं-भावेइ, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणइ ।। सू० १५ ।।

तत्र पृथिवीकायसमारम्भे खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे 'भगवता' श्रीवर्द्धमानस्वामिना परिज्ञानं परिज्ञा सा प्रवेदितेति, इदमुक्तं भवति-भगवतेदमाख्यातं-यथैभिर्वक्ष्यमाणै: कारणै: कृतकारितानुमतिभि: सुखैषिण: पृथिवीकायं समारभन्ते, तानि चामूनि-अस्यैव जीवितस्य परिपेलवस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं, तथा जातिमरणमोचनार्थं दु:ख-प्रतिघातहेतुं च स सुखलिप्सुर्दु:खद्विट् स्वयमात्मनैव पृथिवीशस्त्रं समारभते, तथाऽन्यैश्च पृथिवीशस्त्रं समारम्भयति, पृथिवीशस्त्रं समारभमाणानन्यांश्च

स एव समनुजानीते, एवमती-तानागताभ्यां मनोवाक्कायकर्म-भिरायोजनीयम् । तदेवं प्रवृत्तमतेर्यद्भवति तद्दर्श-यितुमाह-

तं से अहिआए तं से अबोहीए से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेण पुढविसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ, से बेमि, अप्पेगे अंधमब्भे अप्पेगे अंधमच्छे अप्पेगे पायमब्भे अप्पेगे पायमच्छे अप्पेगे गुप्फमब्भे अप्पेगे गुप्फमच्छे अप्पेगे जंघमब्भे २ अप्पेगे जाणुमब्भे २ अप्पेगे उरुमब्भे २ अप्पेगे कडिमब्भे २ अप्पेगे णाभिमब्भे २ अप्पेगे उदरमब्भे २ अप्पेगे पासमब्भे २ अप्पेगे पिट्ठिमब्भे २ अप्पेगे उरमब्भे २ अप्पेगे हिययमब्भे २ अप्पेगे थणमब्भे २ अप्पेगे खंधमब्भे २ अप्पेगे बाहुमब्भे २ अप्पेगे हत्थमब्भे २ अप्पेगे अंगुलिमब्भे २ अप्पेगे णहमब्भे २ अप्पेगे गीवमब्भे २ अप्पेगे हणुमब्भे २ अप्पेगे होट्ठमब्भे २ अप्पेगे दंतमब्भे २ अप्पेगे जिब्भमब्भे २ अप्पेगे तालुमब्भे २ अप्पेगे गलमब्भे २ अप्पेगे गंडमब्भे २ अप्पेगे कण्णमब्भे २ अप्पेगे णासमब्भे २ अप्पेगे अच्छिमब्भे २ अप्पेगे भमुहमब्भे २ अप्पेगे णिडालमब्भे २ अप्पेगे सीसमब्भे २ अप्पेगे संपमारए अप्पेगे उद्दवए, इत्थं सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरभा अपरिण्णाता भवंति ।।सू0 १६।।

'तं से अहियाए तं से अबोहीए' तत् पृथिवीकायसमारम्भणं 'से' तस्य कृतकारितानुमतिभिः पृथ्वीशस्त्रं समारंभमाणस्यागामिनि काले अहिताय भवति, तदेव चाबोधिलाभायेति, न हि प्राणिगणोपमर्दनप्रवृत्ता-नामणीयसाऽपि हितेनाऽऽयत्यां योगो भवतीत्युक्तं भवति, यः पुनर्भगवतः सकाशात्तच्छिष्यानगारेभ्यो वा विज्ञाय पृथ्वीसमारम्भं पापात्मकं भावयति

स एवं मन्यत इत्याह–'से त'मित्यादि, 'सः' ज्ञातपृथिवीजीवत्वेन विदितपरमार्थः 'तं' पृथ्वीशस्त्रसमारम्भमहितं सम्यगवबुध्यमानः 'आदानीयं' ग्राह्यं सम्यग्दर्शनादि सम्यगुत्थाय–अभ्युपगम्य, केन प्रत्ययेनेति दर्शयति–'श्रुत्वा' अवगम्य साक्षाद्भगवतोऽनगाराणां वा समीपे, ततः 'इह' मनुष्यजन्मनि 'एकेषां' प्रतिबुद्धत्त्वानां साधूनां ज्ञातं भवतीति, यत् ज्ञातं भवति तद्दर्शयितुमाह–'एसे'त्यादि, एष पृथ्वीशस्त्रसमारम्भः खलु–रवधारणे कारणे कार्योपचारं कृत्वा 'नड्वलोदकं पादरोग' इति न्यायेनैष एव ग्रन्थः–अष्टप्रकारकर्मबन्धः, तथैष एव पृथ्वीसमारम्भो मोह–हेतुत्वान्मोहः–कर्मबन्धविशेषो दर्शनचारित्रभेदोऽष्टाविंशतिविधः, तथैष एव मरणहेतुत्वान्मारः–आयुष्ककर्मक्षयलक्षणः, तथैष एव नरकहेतु–त्वान्नरकः–सीमन्तकादिभूँ भागः, अनेन चासातावेदनीयमुपात्तं भवति, कथं पुनरेकप्राणिव्यापादनप्रवृत्तावष्टविधकर्मबन्धं करोतीति, उच्यते, मार्यमाणजन्तुज्ञानावरोधित्वात् ज्ञानावरणीयं बध्नात्येवमन्यत्राप्यायोज–नीयमिति, अन्यदपि तेषां ज्ञातं भवतीति दर्शयितुमाह–'इच्चत्थ'मित्यादि, 'इत्येवमर्थम्' आहारभूषणोपकरणार्थं तथा परिवन्दनमाननपूजनार्थं दुःखप्र–तिघातहेतुं च 'गृद्धो' मूर्छितो 'लोकः' प्राणिगणः, एवंविधेऽ–प्यतिदुरितनिचयविपाकफले पृथ्वीकायसमारम्भे अज्ञानवशान्मूर्छितस्त्वेत–द्विधत्त इति दर्शयति–'यद्'यस्माद् 'इमं' पृथ्वीकायं विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथ्वीकर्म(कायं) समारंभमाणो हिनस्ति, पृथिवीकर्म्मसमारम्भेण च पृथिव्येव शस्त्रं स्वकायादेः पृथिव्या वा शस्त्रं हलकुद्दालादि तत्समारभते, पृथिवीशस्त्रं समारभमाणश्चान्याननेकरूपान् 'प्राणिनो' द्वीन्द्रियादीन्विविधं हिनस्तीति । स्यादारेका, ये हि न पश्यन्ति न श्रृण्वन्ति न जिघ्रन्ति न गच्छन्ति कथं पुनस्ते वेदनामनुभवन्तीति ग्रहीतव्यम् ?, अमुष्यार्थस्य प्रसिद्धये दृष्टान्त–माह–'से बेमी'त्यादि, सोऽहं पृष्टो भवता पृथिवीकायवेदनां ब्रवीमि, अथवा 'से' इति तच्छब्दार्थे वर्त्तते, यत्त्वया पृष्टस्तदहं ब्रवीमि, अपिशब्दो यथानामशब्दार्थे, यथा नाम कश्चिज्जात्यन्धो

बधिरो मूकः कुष्ठी पङ्गुः अनभिनिर्वृत्तपाण्याद्यवयवविभागो मृगापुत्रवत् पूर्वकृताशुभकर्मो-दयाद्धिताहितप्राप्तिपरिहारविमुखोऽतिकरुणां दशां प्राप्तः, तमेवंविधमन्धा-दिगुणोपेतं कश्चित्कुन्ताग्रेण 'अब्भे' इति आभिन्द्यात् तथाऽपरः कश्चिद-न्धमाच्छिन्द्यात् स च भिद्यमानाद्यवस्थायां न पश्यति न श्रुणोति मूकत्वा-न्नोच्चै रारटीति, किमेतावता तस्य वेदनाऽभावो जीवाभावो वा शक्यो विज्ञातुम् ?, एवं पृथिवीजीवा अप्यव्यक्तचेतना जात्यन्धब-धिरमूकपङ्ग्वादिगुणोपेतपुरुषवदिति, यथा वा पञ्चेन्द्रियाणां परिस्पष्टचेत-नानां 'अप्पेगे पायमब्भे' इति यथा नाम कश्चित्पादमाभिन्द्यादाच्छिन्द्याद्वेत्येवं गुल्फादिष्वप्यायोजनीयमिति दर्शयति, एवं जङ्घाजानूरुकटीनाभ्युदरपार्श्वपृष्ट-उरोहृदयस्तनस्कन्ध-बाहुहस्ताङ्गुलिनखग्रीवा-हनुकौष्ठदन्तजिह्वातालु-गलगण्डकर्ण-नासिका-क्षिभ्रूललाटशिरःप्रभृतिष्ववयवेषु भिद्यमानेषु छिद्यमानेषु वा वेदनोत्पत्ति-र्लक्ष्यते, एवमेषामुत्कटमोहाज्ञानभाजां स्त्यानर्द्ध्याद्युदयादव्यक्त-चेतना-नामव्यक्तैव वेदना भवतीति ग्राह्यम् । अत्रैव दृष्टान्तान्तरं दर्शयितुमाह- 'अप्पेगे संपमारए अप्पेगे उद्दवए' यथा नाम कश्चित् 'सम्' एकीभावेन प्रकर्षेण प्राणानां मारणम्-अव्यक्तत्वापादनं कस्यचित् कुर्यात्, मूर्च्छामा-पादयेदित्यर्थः, तथाऽवस्थं च यथा नाम कश्चिदुपद्रापयेत् प्राणेभ्यो व्यपरोपयेत् न चासौ तां वेदनां स्फुटामनुभवति, अस्ति चाव्यक्ता तस्यासौ वेद(चेत) नेति, एवं पृथिवीजीवानामपि द्रष्टव्यमिति । पृथिवीकायिकानां जीवत्वं प्रसाध्य तथा नानाविधशस्त्रसंपाते वेदनां चाविर्भाव्य अधुना तद्वधे बन्धं दर्शयितुमाह-

एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढविसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं पुढविसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे पुढविसत्थं समारंभंते समणु-जाणेज्जा, जस्सेते पुढविकम्मसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मेत्ति बेमि ।। सू० १७।। इति प्रथमाध्ययने द्वितीय उद्देशकः ।

'अत्र' पृथिवीकाये 'शस्त्रं' द्रव्यभावभिन्नं, तत्र द्रव्यशस्त्रं स्वकाय-

परकायोभयरूपं, भावशस्त्रं त्वसंयमो दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायलक्षण:, एतद्द्विविधमपि शस्त्रं समारभमाणस्येति 'एते' खननकृष्याद्यात्मका: समारम्भा: बन्धहेतुत्वेन 'अपरिज्ञाता' अविदिता भवन्ति, एतद्विपरीतस्य परिज्ञाता भवन्तीति दर्शयितुमाह-'एत्थे'त्यादि, 'अत्र' पृथिवीकाये द्विविधमपि शस्त्रम् 'असमारभमाणस्स' अव्यापारयत इति, 'एते' प्रागुक्ता: कर्मसमारम्भा: 'परिज्ञाता' विदिता भवन्ति, अनेन च विरत्यधिकार: प्रतिपादितो भवतीति, तामेव विरतिं स्वनामग्राहमाह-'त'मित्यादि, तं पृथिवीकायसमारम्भे बन्धं परिज्ञाय असमारम्भे चाऽबन्धमिति 'मेधावी' कुशल: एतत् कुर्यादिति-दर्शयति नैव पृथिवीशस्त्रं द्रव्यभावभिन्नं समारभेत, नापि तद्विषयोऽन्यै: समारम्भ: कारयितव्य:, न चान्यान् पृथिवीशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात् इति, एवं च मनोवाक्कायकर्म्मभिरतीतानागतकालयोरप्यायोजनीयमिति, ततश्चैवं कृतनिवृत्तिरसौ मुनिरिति व्यपदिश्यते, न शेष इति दर्शयन्नुपसञ्जिहीर्षुराह-'यस्य' विदितपृथिवीजीववेदनास्वरूपस्य, 'एते' पृथिवीविषया: कर्म्म समारम्भा: खननकृष्याद्यात्मका: कर्मबन्धहेतुत्वेन परिज्ञाता भवन्ति ज्ञपरिज्ञया तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति, हुरवधारणे, स एव मुनिर्द्विविधयाऽपि परिज्ञया परिज्ञातं कर्म-सावद्यानुष्ठानमष्टप्रकारं वा कर्म येन स परिज्ञातकर्मा, नापर: शाक्यादि:, ब्रवीमि पूर्ववदिति शस्त्रपरिज्ञायां द्वितीय उद्देशक: समाप्त: ।।१-२।।

।। अथ प्रथमाध्ययने तृतीयोऽप्कायोद्देशक: ।।

गत: पृथिव्युद्देशक:, साम्प्रतमप्कायोद्देशक: समारभ्यते. अस्य चायमभिसम्बन्ध:-इहानन्तरोद्देशके पृथिवीकायजीवा: प्रतिपादितास्तद्वधे बन्धो विरतिश्च, साम्प्रतं क्रमायातस्याप्कायस्य जीवत्वं तद्वधे बन्धो विरतिश्च प्रतिपा-द्यते इति, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि, तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे अप्कायोद्देशक:, तत्र पृथिवीकायजीवस्वरूपसमधिगतये यानि नव निक्षेपादीनि द्वारा-

ण्युक्तानि, अप्कायेऽपि तान्येव समानतयाऽतिदेष्टु-काम: कानिचिद्विशेषा-भिधित्सयोद्धर्तु कामश्च निर्युक्तिकारो गाथामाह-

आउस्सवि दाराई ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुवभोगसत्थे य ॥१०६॥

अप्कायस्यापि तान्येव द्वाराणि भवन्ति यानि पृथिव्या: प्रतिपादितानीति, 'नानात्वं' भेदरूपं विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रविषयं द्रष्टव्यं, चशब्दा-ल्लक्षणविषयं च, तुशब्दोऽवधारणार्थ:, एतद्गतमेव नानात्वं नान्यगतमिति ॥ तत्र विधानंप्ररूपणा, तद्गतं नानात्वं प्रदर्शयितुमाह-

दुविहा उ आउजीवा सुहुमा तह बायरा य लोगंमि ।
सुहुमा य सव्वलोए पंचेव य बायरविहाणा ॥१०७॥

स्पष्टा ॥ तत्र पञ्च बादरविधानानि दर्शयितुमाह-

सुद्धोदए य उस्सा हिमे य महिया य हरतणू चेव ।
बायर आउविहाणा पंचविहा वण्णिया एए ॥१०८॥

'शुद्धोदकं' तडागसमुद्रनदीह्रदावटादिगतमवश्यादिरहितमिति, 'अवश्यायो' रजन्यां यस्त्रेह: पतति, हिमं तु शिशिरसमये शीतपुद्गल-सम्पर्क्काज्जलमेव कठिनीभूतमिति, गर्भमासादिषु सायं प्रातर्वा धूमिकापातो महिकेत्युच्यते, वर्षाशरत्कालयोर्हरिताङ्कुरमस्तकस्थितो जलबिन्दु-र्भूमिस्नेहसम्पर्कोद्भूतो हरतनुशब्देनाभिधीयते, एवमेते पञ्च बादराप्काय-विधयो व्यावर्णिता: । ननु च प्रज्ञापनायां बादराप्कायभेदा बहव: परिप-ठिता:, तद्यथा-करकशीतोष्णक्षारक्षत्रकट्वम्ललवणवरुणकालोदपुष्कर क्षीरघृतेक्षुरसादय:, कथं पुनस्तेषामत्र सङ्ग्रह: ?, उच्यते, करकस्ताव-त्कठिनत्वाद्धिमान्तपाती, शेषास्तु स्पर्शरसस्थानवर्णमात्रभिन्नत्वान्न शुद्धोदकमतिवर्त्तन्ते, यद्येवं प्रज्ञापनायां किमर्थोऽपरभेदानां पाठ: ?, उच्यते, स्त्रीबालमन्दबुद्ध्यादिप्रतिपत्त्यर्थमिति, इहापि कस्मान्न तदर्थं पाठ: ?, उच्यते, प्रज्ञापनाध्ययनमुपाङ्गत्वादार्षं, तत्र युक्त: सकल-भेदोपन्यास:

स्त्र्याद्यनुग्रहाय, निर्युक्तयस्तु सूत्रार्थं पिण्डाकुर्वन्त्यः प्रवर्तन्त इत्य-दोषः । त एते बादराप्कायाः समासतो द्वेधाः-पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्च, तत्राप-र्याप्तका वर्णादीनसम्प्राप्ताः, पर्याप्तकास्तु वर्णगन्धरसस्पर्शादेशैः सहस्त्राग्रशो भिद्यन्ते, ततश्च सङ्ख्येयानि योनिप्रमुखानि शतसहस्त्राणि भवन्ति भेदाना-मित्यवगन्तव्यं, संवृतयोनयश्चैते, सा च योनिः सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा, पुनश्च शीतोष्णोभयभेदात्त्रिविधैव, एवं गण्यमानाः योनीनां सप्त लक्षा भवन्तीति ।। प्ररूपणानन्तरं परिमाणद्वारमाह-

जे बायरपज्जत्ता पयरस्स असंखभागमित्ता ते ।
सेसा तिन्निवि रासी वीसुं लोगा असंखिज्जा ।।१०९।।

ये बादराप्कायपर्याप्तकास्ते संवर्त्तितलोकप्रतरासंख्येयभागवर्ति-प्रदेशराशिपरिमाणाः, शेषास्तु त्रयोऽपि राशयो 'विष्वक्' पृथगसंख्येय-लोकाकाशप्रदेशराशिपरिमाणा इति, विशेषश्चायम्-बादरपृथिवीकाय-पर्याप्तकेभ्यो बादराप्कायपर्याप्तका असंख्येयगुणाः बादरपृथ्वीकाया-पर्याप्तकेभ्यो बादराप्कायापर्याप्तका असंख्येयगुणाः सूक्ष्मपृथिवीकाया-पर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माप्कायापर्याप्तका विशेषाधिकाः सुक्ष्मपृथ्वीकायपर्याप्त-केभ्यः सुक्ष्माप्कायपर्याप्तका विशेषाधिकाः ।। साम्प्रतं परिमाणद्वारानन्तरं चशब्दसूचितं लक्षणद्वारमाह-

जह हत्थिस्स सरीरं कललावत्थस्स अहुणोववन्नस्स ।
होइ उदगंडगस्स य एसुवमा सव्वजीवाणं ।।११०।।

अथवा पर आक्षिपति-नाप्कायो जीवः, तल्लक्षणायोगात् प्रश्रव-णादिवदित्यस्य हेतोरसिद्धतोद्भावनार्थं दृष्टान्तद्वारेण लक्षणमाह- जहेत्यादि, यथा हस्तिनः शरीरं कललावस्थायामधुनोत्पन्नस्य द्रवं सचेतनं च दृष्टम्, एवमप्कायोऽपीति, यथा वा उदकप्रधानमण्डकमुदकाण्डमधुनोत्पन्न-मित्यर्थः, तन्मध्यव्यवस्थितं रसमात्रमसञ्जातावयवमनभिव्यक्तचञ्च्वा-दिप्रविभागं चेतनावद् दृष्टम्, एषा एवोपमा अप्कायजीवानामपीति,

हस्तिशरीरकललग्रहणं च महाकायत्वात्तद्बहुभवतीत्यतः सुखेन प्रतिपद्यते, अधुनोपपन्नग्रहणं सप्ताहपरिग्रहार्थं, यतः सप्ताहमेव कललं भवति, परतस्त्वर्बुदादि, अण्डकेऽप्यु (केषूदकग्रहणमेवमर्थमत्र, प्रयोगश्चायम्-सचेतना आपः, शस्त्रानुपहतत्वे सति द्रवत्वात्, हस्तिशरीरोपादानभूत-कललवत्, विशेषणोपादानात्प्रश्रवणदिव्युदासः, तथा सात्मकं तोयम्, अनुपहतद्रवत्वाद्, अण्डकमध्यस्थितकललवदिति, तथा आपो जीव-शरीराणि, छेद्यत्वाद्भेद्यत्वादुत्क्षेप्यत्वाद्भोज्यत्वाद्भोग्यत्वात् घ्रेयत्वाद्रस-नीयत्वात् स्पर्शनीयत्वात् दृश्यत्वाद् द्रव्यत्वाद् एवं सर्वेऽपि शरीरधर्मा हेतुत्वेनोपन्यसनीयाः, गगनवर्जभूतधर्माश्च रूपवत्त्वाकारवत्त्वादयः, सर्व्वत्र चायं दृष्टान्तः-सास्नाविषाणादिसङ्घातवदिति, ननु च रूपवत्त्वाकारव-त्त्वादयो भूतधर्माः परमाणुष्वपि दृष्टा इत्यनैकान्तिकता, नैतदेवं, यदत्र छेद्यत्वादिहेतुत्वेनोपन्यस्तं तत्सर्वमिन्द्रियव्यवहारानुपाति, न च तथा परमा-णवः, अतः प्रकरणादतीन्द्रियपरमाणुव्यवच्छेदः, यदिवा नैवासौ विपक्षः, सर्वस्य पुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यशरीराभ्युपगमात्, जीवसहितासहितत्वं तु विशेषः, उक्तं च 'तणवोऽणब्भातिविगार मुत्तजाइत्तओऽणिलंता उ ।
सत्थासत्थ-हयाओ निज्जीवसजीवरूवाओ ॥१॥'
(तनवोऽण्वभ्रादिविकारा मूर्त्तजा-तित्वतः अनिलान्तास्तु । शस्त्राशस्त्राहता निर्जीवसजीवरूपाः ॥१॥) एवं शरीरत्वे सिद्धे सति प्रमाणं-सचेतना हिमादयः, क्वचित् अप्कायत्वाद्, इतरोदकवत् इति, तथा सचेतना आपः, क्वचित् खात-भूमिस्वाभाविक-सम्मभवत्वाद्, दर्दुरवत्, अथवा सचेतना अन्तरिक्षोद्भवा आपः, स्वाभावि-कव्योमसम्भूतसम्पातित्वात्, मत्स्यवत्, अत एते एवविधलक्षण-भाक्त्वाज्जीवा भवन्त्यप्कायाः ॥
साम्प्रतमुपभोगद्वारमाह-

ण्हाणे पिअणे तह धोअणे य भत्तकरणे अ सेए अ ।
आउस्स उ परिभोगो गमणागमणे य जी(ना)वाणं ॥११९॥

स्नानपानधावनभक्तकरणसेकयानपात्रोडुपगमनागमनादिरुपभोगः ।। ततश्च तत्परिभोगाभिलाषिणो जीवा एतानि कारणन्युद्दिश्याप्कायवधे प्रवर्त्तन्त इति प्रदर्शयितुमाह-

एएहिं कारणेहिं हिंसंती आउकाइए जीवे ।

सायं गवेसमाणा परस्स दुक्खं उदीरेंति ।।११२।।

'एभिः' स्नानावगाहनादिकैः कारणैरुपस्थितैः विषयविषमोहितात्मानो निष्करुणा अप्कायिकान् जीवान् 'हिंसन्ति' व्यापादयन्ति, किमर्थमित्याह-'सातं' सुखं तदात्मनः 'अन्वेषयन्तः' प्रार्थयन्तः हिताहितविचारशून्यमनसः कतिपयदिवसस्थायिरम्ययौवनदर्पाध्मातचेतसः सन्तः सद्विवेकरहिताः तथा विवेकिजनसंसर्गविकलाः 'परस्य'अबादेर्जन्तुगणस्य 'दुःखम्' असातलक्षणं तद् 'उदीरयन्ति' असातवेदनीयमुत्पादयन्तीत्यर्थः, उक्तं च-'एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकस्तद्वद्भिरेव सह संवसतिर्द्वितीयम् । एतद्द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्धस्तस्यापमार्गचलन खलु कोऽपराधः ? ।।१।। ' इदानीं शस्त्रद्वार-मुच्यते-

उस्सिंचणगालणधोवणे य उवगरणमत्तभंडे य ।

बायरआउक्काए एयं तु समासओ सत्थं ।।११३।।

शस्त्रं द्रव्यभावभेदात् द्विधा-द्रव्यशस्त्रमपि समासविभागभेदात् द्विधैव, तत्र समासतो द्रव्यशस्त्रमिदम्-ऊद्ध्वं सेचनमुत्सेचनं-कूपादेः कोशादिनोत्क्षेपणमित्यर्थः, 'गालनं' घनमसृणवस्त्राद्धान्तेन 'धावनं' वस्त्राद्युपकरणचर्मकोशकटाहा (घटा) दिभण्डकविषयम्, एवमादिकं बादराप्काये 'एतत्' पूर्वोक्तं 'समासतः' सामान्येन शस्त्रं, तु शब्दो विभागापेक्षया विशेषणार्थः ।। विभागतस्त्विदम्-

किंची सकाय सत्थं किंची परकाय तदुभयं किंची ।

एयं तु दव्वसत्थं भावे य असंजमो सत्थं ।।११४।।

किञ्चित् स्वकायशस्त्रं नादेयं तडागस्य, किञ्चित्परकायशस्त्रं मृत्तिका-स्नेहक्षारादि, किञ्चिच्चोभयं उदकमिश्रमृत्तिकोदकस्येति, भावशस्त्रमसंयमः प्रमत्तस्य दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायलक्षण इति ॥ शेषद्वाराणि पृथिवीकायवन्नेतव्यानि इति दर्शयितुमाह-

सेसाइं दाराइं ताइं ताइं हवंति पुढवीए ।
एवं आउद्देसे निज्जुत्ती कित्तिया एसा (होइ) ॥११५॥

'शेषाणी'त्युक्तशेषाणि निक्षेपवेदनावधनिवृत्तिरूपाणि, तान्येवात्रापि द्रष्टव्यानि यानि २ पृथिव्यां भवन्तीति, 'एवम्' उक्तप्रकारेणाप्कायोद्देशके 'निर्युक्तिः' निश्चयेनार्थघटना 'कीर्त्तिता' प्रदर्शिता भवतीति ॥ साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्-

से बेमि वि जहा से अणगारे उज्जुकडे नियागपडिवण्णे (निकाय-पडिवन्ने) अमायं कुव्वमाणे वियाहिए ॥ सू० १८॥

'से बेमी'त्यादि अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके परिसमाप्तिसूत्रे 'पृथिवीकायसमारम्भव्यावृत्तो मुनि' रित्युक्तं, न चैतावता सम्पूर्णो मुनिर्भवति, यथा च भवति तथा दर्शयति, तथाऽऽदिसूत्रेणायं सम्बन्धः-सुधर्मस्वामी इदमाह-श्रुतं मया भगवदन्तिके यत् प्राक् प्रतिपादितमन्यच्चेदमित्येवं परम्परसूत्रसम्बन्धोऽपि प्राग्वद्वाच्यः । सेशब्दस्तच्छब्दार्थो, स यथा पृथिवीकायसमारम्भव्यावृत्त्युत्तरकालं सम्पूर्णानगारव्यपदेशभाग् भवति तदहं ब्रवीमि, अपिः समुच्चये, स यथा चाऽनगारो न भवति तथा च ब्रवीमि 'अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणे'त्यादिनेति, न विद्यते अगारं-गृहमेषामित्यनगारा, इह च यत्यादिशब्दव्युदासेनानगारशब्दोपादानेनैतदाचष्टेगृहपरित्यागः प्रधानं मुनित्वकारणं, तदाश्रयत्वात्सावद्यानुष्ठानस्य, निरवद्यानुष्ठायी च मुनिरिति दर्शयति-'उज्जुकडे' त्ति ऋजुः-अकुटिलः संयमो दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायनिरोधः सर्वसत्त्वसंरक्षणप्रवृत्तत्वाद्द्यैकरूपः, सर्वत्राकुटिलगतिरितियावत्, यदि वा मोक्षस्थान-

गमनर्जुश्रेणिप्रतिपत्ते: सर्वसंवरसंयमात्, कारणे कार्योपचारं कृत्वा संयम एव, स च सप्तदशप्रकार ऋजु: तं करोतीति ऋजुकृत्, ऋजुकारीत्यर्थः । अनेन चेदमुक्तं भवति-अशेषसंयमानुष्ठायी सम्पूर्णोऽनगार:, एवं विधश्चेदृग् भवतीति तद् दर्शयति- 'नियागपडिवन्ने' त्ति यजनं याग: नियतो निश्चितो वा यागो नियागोमोक्षमार्ग:, सङ्गतार्थत्वाद्धातो: सम्यग्ज्ञानदर्शन-चारित्रात्मतया गतं सङ्गतमिति, तं नियागं-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मोक्षमार्गं प्रतिपन्नो नियाग प्रतिपन्न:, पाठान्तरं वा 'निकायप्रतिपन्नो' निर्गत: काय:-औदारिकादिर्यस्माद्यस्मिन्वा सति स निकायो-मोक्षस्तं प्रतिपन्नो निकायप्रतिपनन्न:, तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनादे: स्वशक्त्या-ऽनुष्ठानात् स्वशक्त्याऽष्ठानं चामायाविनो भवतीति दर्शयति- 'अमायं कुव्वमाणे' त्ति माया-सर्वत्र स्ववीर्यनिगूहनं, न माया अमाया तां कुर्वाण:, अनिगूहितबलवीर्य: संयमानुष्ठाने पराक्रममाणोऽनगारो व्याख्यात इति, अनेन च तज्जातीयोपादानादशेषकषायापगमोऽपि द्रष्टव्य इति, उक्तं च- 'सोही य (शोधिश्चर्जुभूतस्य धर्म: शुद्धस्य तिष्ठति.) उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ' त्ति ।। तदेवमसावुद्धतसकलमायावल्लीवितान: किं कुर्यादित्याह-

जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा, वियहित्ता विसोत्तियं (विजहित्ता पुव्वसंजोयं) ।।सू० १९।। 'यया श्रद्धया' प्रवर्द्धमान-संयमस्थान (मानुष्ठान) कण्डकरूपया 'निष्क्रान्त:' प्रवज्यां गृहीतवान् 'तामेव' श्रद्धामश्रान्तो यावज्जीवम् 'अनुपालयेद्' रक्षेदित्यर्थ:, प्रव्रज्याकाले च प्रायश: प्रवृद्धपरिणाम एव प्रव्रजति, पश्चात्तु संयमश्रेणी प्रतिपन्नो वर्द्धमानपरिणामो वा हीयमानपरिणामो वा अवस्थितपरिणामो वेति, तत्र वृद्धिकालो हानिकालो वा समयाद्युत्कर्षेणान्तर्मौहूर्त्तिक:, नात: परं सङ्क्लेशविशुद्ध्यद्धे भवत:, उक्तं च- 'नान्तर्मुहूर्त्तकालमतिवृत्य शक्यं हि जगति सङ्क्लेष्टुम् । नापि विशोद्धुं शक्यं प्रत्यक्षो ह्यात्मन: सोऽर्थ: ।।१।। उपयोगद्वयपरिवृत्ति: सा निर्हेतुका स्वभावत्वात् । आत्म-प्रत्यक्षो हि स्वभावो व्यर्थोऽत्र हेतूक्ति: ।।२।।' अवस्थितिकालश्च

द्वयोर्वृद्धिहानिलक्षणयोर्यवमध्यवज्रमध्ययोरष्टौ समयाः, तत ऊर्द्ध्वमवश्यं पातात्, अयं च वृद्धिहान्यवस्थितरूपः परिणामः केवलिनां निश्चयेन गम्यो न छद्मस्थानामिति । यद्यपि च प्रव्रज्याभिगमोत्तरकालं श्रुतसागर-मवगाहमानः संवेगवैराग्यभावनाभावितान्तरात्मा कश्चित्प्रवर्द्धमानमेव परि-णामं भजते, तथा चोक्तम्-'जह जह सुयमवगाहइ अइसयरसपसर-संजुयमउव्वं । तह तह पल्हाइ मुणी नवनवसंवेगसद्धाए ॥१॥' (यथा यथा श्रुतमवगाहते ऽतिशयरसप्रसरसंयुतमपूर्वम् । तथा तथा प्रह्लादते मुनिर्नवनवसंवेगश्रद्धया ॥१॥) तथापि स्तोक एव तादृक् बहवश्च परिपतन्ति अतोऽभिधीयते 'तामेवानुपालयेदि'ति, कथं पुनः कृत्वा श्रद्धामनुपालयेदित्याह- 'विजहे'त्यादि, 'विहाय' परित्यज्य 'विस्रोतसि-कां' शङ्कां, सा च द्विधा-सर्वशङ्का देशशङ्का च, तत्र सर्वशङ्का किमस्ति आर्हतो मार्गो नवेति (मार्ग उत नेति), देशशङ्का तु किं विद्यन्ते अप्कायादयो जीवाः ?, विशेष्य प्रवचनेऽभिहितत्वात् स्पष्टचेतनात्मलिङ्गाभावान्न विद्यन्ते इति वा, इत्येवमादिकामारेकां विहाय सम्पूर्णाननगारगुणान् पालयेत्, य दिवा विस्रोतांसि द्रव्यभावभेदात् द्विधा-तत्र द्रव्यविस्रोतांसि नद्यादिस्रोतसां प्रतीपगमनानि, भावविस्रोतांसि तु मोक्षं प्रति सम्यग्दर्शनादिस्रोतसा प्रस्थितानां विरूपाणि, प्रतिकूलानि गमनानि भावविस्रोतांसि, तानि विहाय सम्पूर्णानगारगुणभाग् भवति, श्रद्धां वाऽनुपालयेदिति, पाठान्तरं वा विजहित्ता पुव्वसंजोगं' पूर्वसंयोगः-माता-पित्रादिभिः, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्पश्चात्संयोगोऽपि श्वशुरादिकृतो ग्राह्यस्तं 'विहाय' त्यक्त्वा 'श्रद्धामनुपालयेदि'ति मीलनीयं ॥ तत्र यस्यायमुपदेशो दीयते यथा 'विहाय विस्रोतांसि तदनु श्रद्धानुपालनं कार्यं' स एवाभिधीयते-न केवलं भवानेवापूर्वमिदमनुष्ठानमेवंविधं करिष्यति, किं त्वन्यैरपि महासत्त्वैः कृतपूर्वमिति दर्शयितुमाह-

पणया वीरा महावीहिं ॥सू० २०॥

'प्रणता' प्रह्वाः 'वीराः' परीषहोपसर्गकषायसेनाविजयात् वीथिः-

पन्था: महांश्चासौ वीथिश्च महावीथि:-सम्यग् दर्शनादिरूपो मोक्षमार्गो जिनेन्द्रचन्द्रादिभि: सत्पुरुषै: प्रहत:, तं प्रति प्रह्वा:-वीर्यवन्त: संयमानुष्ठानं कुर्वन्ति, ततश्चोत्तमपुरुषप्रहतोऽयं मार्ग इति प्रदर्श्य तज्जनितमार्गविस्रम्भो विनेय: संयमानुष्ठाने सुखेनैव प्रवर्त्तयिष्यते ।। उपदेशान्तरमाह-लोकं चेत्यादि, अथवा यद्यपि भवतो मतिर्न क्रमतेऽप्कायजीवविषये, असंस्कृतत्वात्, तथापि भगवदाज्ञेयमिति श्रद्धातव्यमित्याह-

लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुओभयं ।।सू0 २१।।

अत्रादिकृतत्वादप्कायलोको लोकशब्देनाभिधीयते, तमप्कायलोकं चशब्दादन्यांश्च पदार्थान् 'आज्ञया' मौनीन्द्रवचनेनाभिमुख्येन सम्यगित्वा-ज्ञात्वा, यथाऽप्कायादयो जीवा:, इत्येवमवगम्य न विद्यते कुतश्चिद्धेतो:-केनापि प्रकारेण जन्तूनां भयं यस्मात् सोऽयमकुतोभय:-संयमस्तमनुपा-लयेदिति सम्बन्ध:, यद्वा 'अकुतोभय:' अप्कायलोको, यतोऽसौ न कुतश्चिद्भयमिच्छति, मरणभीरुत्वात्, तमाज्ञयाऽभिसमेत्यानुपालयेद्-रक्षेदित्यर्थ: ।। अप्कायलोक-माज्ञया अभिसमेत्य यत्कर्त्तव्यं तदाह-

से बेमि, णेव सयं लोगं अब्भाइक्खिज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ ।। सू0 २२।।

सोऽहं ब्रवीमि, से शब्दस्य युष्मदर्थत्वात्त्वां वा ब्रवीमि, न 'स्वयम्' आत्मना 'लोक:' अप्कायलोकोऽभ्याख्यातव्य:, अभ्याख्यानं नामासदभियोग:, यथाऽचौरं चौरमित्याह, इह तु जीवा न भवन्त्याप:, केवलमुपकरणमात्रं, घृततैलादिवत्, एषोऽसदभियोग:, हस्त्यादीनामपि जीवानामुपकरणत्वात्, स्यादारेकानत्वेतदेवाभ्याख्यानं यदजीवानां जीवत्वापादनं नैतदस्ति, प्रसाधितमपां प्राक् सचेनत्वं, यथा हि अस्य शरीरस्याहंप्रत्ययादिभिर्हेतुभिरधिष्ठाताऽऽत्मा व्यतिरिक्त: प्राक् प्रसाधित एवमप्कायोऽप्यव्यक्तचेतनया सचेतन इति प्राक् प्रसाधित:, न च

प्रसाधितस्याभ्याख्यानं न्याय्यम्, अथापि स्याद्, आत्मनोऽपि शरीराधिष्ठातुरभ्याख्यानं कर्त्तव्यं, न च तत्क्रियमाणं घटामियर्त्तीति दर्शयति- 'नेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा' नैव 'आत्मानं' शरीराधिष्ठतारमहंप्रत्यसिद्धं ज्ञानाभिन्नगुणं प्रत्यक्षं 'प्रत्याचक्षीत' अपह्नुवीत ननु चैतदेव कथमवसीयते-शरीराधिष्ठाताऽऽत्माऽस्तीति, उच्यते, विस्मरणशीलो देवानां प्रिय उत्तमपि भाणयति, तथाहि-आहृतमिदं शरीरं केनचिदभिसन्धिमता, कफरुधिराङ्गोपाङ्गादिपरिणतेः, अन्नादिवत्, तथोत्सृष्टमपि केनचिदभिसन्धिमतैव, आहृतत्वाद्, अन्नमलवदिति, तथा न ज्ञानोपलब्धिपूर्वकः परिस्पन्दो भ्रान्तिरूपः, परिस्पन्दत्वात्, त्वदीयवचनपरिस्पन्दवत्, तथा विद्यमानाधिष्ठातृ-व्यापारभाञ्जीन्द्रियाणि, करणत्वात्, दात्रादिवत्, एवं कुतर्कमार्गानुसारिहेतुमालोच्छेदः स्याद्वादपरशुना कार्यः, अत एवंविधोपपत्तिसमधिगतमात्मानं शुभाशुभफलभाजं न प्रत्याचक्षीत, एवं च सति यो ह्यज्ञः कुतर्कतिमिरोपहतज्ञान-चक्षुरप्कायलोकमभ्याख्यातिप्रत्याचष्टे स सर्वप्रमाणसिद्धमात्मानमभ्याख्याति, यश्चात्मानमभ्याख्यातिनास्म्यहं, स सामर्थ्यादप्कायलोकमभ्याख्याति, यतो ह्यात्मनि पाण्याद्यवयवोपेतशरीराधिष्ठायिनि प्रस्पष्टलिङ्गेऽभ्याख्याते सत्यव्यक्तचेतनालिङ्गोऽप्कायलोकस्तेन सुतरामभ्याख्यातः ।। एवमनेकदोषोपपत्तिं विदित्वा नायमप्कायलोकोऽभ्याख्यातव्य इत्यालोच्य साधवो नाप्कायविषयमारम्भं कुर्वन्तीति, शाक्यादयस्त्वन्यथोपस्थिता सति दर्शयितुमाह-

लज्जमाणा पुढो पास-अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ १। तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव उदयसत्थं समारभति अण्णेहिं वा उदयसत्थं समारंभावेति अण्णे उदयसत्थं समारंभंते समणुजाणति, तं से अहियाए तं से अबोहीए २। से तं संबुज्झमाणे

आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति-एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारम्भेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिं-सइ ३। से बेमि संति पाणा उदयनिस्सिया जीवा अणेगा ४।।सू0 २३।।

'लज्जमाना:' स्वकीयं प्रव्रज्याभासं कुर्वाणा: यदिवा सावद्यानुष्ठानेन लज्जमाना:-लज्जां कुर्वाणा: 'पृथग्' विभिन्ना: शाक्योलूककणभूक्कपिलादिशिष्या:, पश्येति शिष्यचोदना, अविवक्षितकर्मका अपि अकर्मका भवन्ति, यथा-पश्य मृगो धावतीति, द्वितीयार्थे वा प्रथमा सुब्व्यत्ययेन द्रष्टव्या, ततश्चायमर्थ:-शाक्यादीन् गृहीतप्रव्रज्यानपि सावद्यानुष्ठानरतान् पृथग्विभिन्नान् पश्य, किं तैरसदाचरितं ? येनैवं प्रदर्श्यन्त इति दर्शयति-अनगारा वयमित्येके शाक्यादय: प्रवदन्तो 'यदिदं' यदेतत्, काक्वा दर्शयति-'विरूपरूपै:' उत्सेचनाग्निविध्यापनादिशस्त्रै: स्वकायपरकायभेदभिन्नैरुदककर्म समारभन्ते, उदककर्म्मसमारम्भेण च उदके शस्त्रं उदकमेव वा शस्त्रं समारभन्ते, तच्च समारभमाणोऽनेकरूपान्वनस्पतिद्वीन्द्रियादीन्विविधं हिनस्ति १, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, यथा अस्यैव जीवितव्यस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दु:खप्रतिघातहेतुं यत् करोति तद्दर्शयति-स स्वयमेवोदक-शस्त्रं समारभते अन्यैश्चोदकशस्त्रं समारम्भयति अन्यांश्चोदकशस्त्रं समारभममाणान् समनुजानीते, तच्चोदकसमारम्भणं तस्याहिताय भवति, तथा तदेवाबोधिलाभाय भवति २, स एतत्सम्बुध्यमान आदानीयं-सम्यग्दर्शनादि सम्यगुत्थाय-अभ्युपगम्य श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणं वाऽन्तिके इहैकेषां साधूनां यत् ज्ञातं भवति तद्दर्शयति-'एष:' अप्कायसमारम्भो ग्रन्थ एष खलु मोह एष खलु मार एष खलु नरक इत्येवमर्थं गृद्धो लोको यदिदं विरूपरूपै: शस्त्रै: उदककर्मसमारम्भेणोदकशस्त्रं समारभमाणोऽन्याननेकरूपान् प्राणिनो विविधं हिनस्तीत्येतत्प्रागवत् व्याख्येयं ३, पुनरप्याह-'से बेमी'त्यादि,

सेशब्द आत्मनिर्देशे, सोऽहमेवमुपलब्धानेकाप्कायतत्त्ववृत्तान्तो ब्रवीमि- 'सन्ति' विद्यन्ते प्राणिन उदकनिश्रिताः-पूतरकमत्स्यादयो यानुदकारम्भ-प्रवृत्तो हन्यादिति, अथवाऽपरः सम्बन्धः-प्रागुक्तमुदकशस्त्रं समारभमाणोऽन्यानप्यनेकरूपान् जन्तून् विविधं हिनस्तीति, तत् कथमेतच्छक्य-मभ्युपगन्तुमित्यत आह- 'सन्ति पाणा' इत्यादि पूर्ववत्, कियन्तः पुनस्त इति दर्शयति-'जीवा अणेगा' पुनर्जीवोपादानमुदकाश्रितप्रभूतजीव-भेदज्ञापनार्थं ततश्चेदमुक्तं भवति-एकैकस्मिन् जीवभेदे उदकाश्रिता 'अनेके' असंख्येयाः प्राणिनो भवन्ति, एवं चाप्कायविषयारम्भभाजः पुरषास्ते तन्निश्रितप्रभूतजीवसत्त्वव्यापत्तिकारिणो द्रष्टव्याः ४ ।। शाक्यादयस्तूद-काश्रितानेव द्वीन्द्रियादीन् जीवानिच्छन्ति नोदकमित्येतदेव दर्शयति-

इहं च खलु भो ! अणगाराणं उदयजीवा वियाहिया ।। सू० २४।।

खलुशब्दोऽवधारणे 'इहैव' ज्ञातपुत्रीये प्रवचने द्वादशाङ्गे गणिपिटके 'अनगाराणां' साधूनाम् 'उदकजीवा' उदकरूपा जीवाश्चशब्दात्तदाश्रिताश्च पूतरकछेदनकलोद्दणकभ्रमरकमत्स्यादयो जीवा व्याख्याताः, अवधारणफलं च नान्येषामुदकरूपा जीवाः प्रतिपादिताः ।। यद्येवमुदकमेव जीवा-स्ततोऽवश्यं तत्परिभोगे सति प्राणातिपातभाजः साधव इति, अत्रोच्यते, नैतदेवं, यतो वयं त्रिविधमप्कायमाचक्ष्महे-सचित्तं मिश्रमचित्तं च, तत्र योऽचित्तोऽप्काय-स्तेनोपयोगविधिः साधूनां, नेतराभ्यां, कथं पुनरसौ भवत्यचित्तः ? किं स्वभावादेवाहोश्विच्छस्त्रसम्बन्धात् ?, उभयथाऽपीति, तत्र यः स्वभावादेवाचित्तीभवति न बाह्यशस्त्रसम्पर्कात्, तमचित्तं जानाना अपि केवलमनःपर्यायावधिश्रुतज्ञानिनो न परिभुञ्जते, अनवस्था-प्रसङ्गभीरुतया, यतो नु श्रूयते-भगवता किल श्रीवर्द्धमानस्वामिना विमलसलिलसमुल्लसत्तरङ्गः शैवलपटलत्रसादिरहितो महाह्रदो व्यपगताशेषजलजन्तुकोऽचित्तवारिपरिपूर्णः स्वशिष्याणां तृड्बाधिता-नामपि पानाय नानुजज्ञे, तथा अचित्ततिलशकटस्थण्डिलपरिभोगानुज्ञा चानवस्थादोषसंरक्षणाय भगवता न कृतेति, श्रुतज्ञानप्रामाण्यज्ञापनार्थं

च, तथाहि–सामान्यश्रुतज्ञानी बाह्येन्धनसम्पर्क्कारुषितस्वरुपमेवाचित्तमिति व्यवहरति जलं, न पुनर्निरिन्धनमेवेति, अतो यद्वाह्यशस्त्रसम्पर्क्कात् परिणामान्तरापन्नं वर्णादिभिस्तदचित्तं साधुपरिभोगाय कल्पते, किं पुनस्तच्छस्त्रमित्यत आह–

सत्थं चेथ अणुवीइ पासा, पुढो सत्थं(ऽपासं) पवेइयं ।।सू० २५।।

शस्यन्ते–हिंस्यन्तेऽनेन प्राणिन इति शस्त्रं, तच्चोत्सेचनगालनउपकरणधावनादि स्वकायादि च वर्णाद्यापत्तयो वा पूर्वावस्थाविलक्षणाः शस्त्रं, तथाहि–अग्निपुद्गलानुगतत्वादीषत्पिङ्गलं जलं भवत्युष्णं गन्धतोऽपि धूमगन्धि रसतो विरसं स्पर्शत उष्णं तच्चोद्वृत्तत्रि-दण्डम्, एवंविधावस्थं यदि ततः कल्पते, नान्यथा, तथा कचवरकरीषगोमूत्रोषादीन्धनसम्बन्धात् स्तोकमध्यबहुभेदात्, स्तोकं स्तोके प्रक्षिपतीत्यादिचतुर्भङ्गिकाभावना कार्या, एवमेतत्, त्रिविधं शस्त्रं, चशब्दोऽवधारणार्थः, अन्यतमशस्त्रसम्पर्क्कविध्वस्तमेव ग्राह्यं, नान्यथेति, 'एत्थ'त्ति एतस्मिन् अप्काये प्रस्तुते 'अनुविचिन्त्य' विचार्य इदमस्य शस्त्रमित्येवं ग्राह्यं, 'पश्ये' त्यनेन शिष्यस्य चोदनेति । तदेवं नानाविधं शस्त्रमप्कायस्यास्तीति प्रतिपादितम्, एतदेव दर्शयति–'पुढो सत्थं पवेदितं' 'पृथग्' विभिन्नमु–त्सेचनादिकं शस्त्रं 'प्रवेदितम्' आख्यातं भगवता, 'पाठान्तरं वा पुढोऽपासं पवेदितं' एवं पृथग्विभिन्नलक्षणेन शस्त्रेण परिणामितमुदकग्रहणमपाशं प्रवेदितम्–आख्यातं भगवता, अपाशः–अबन्धनं शस्त्रपरिणामितोदकग्रहणमबन्धनमाख्यातमितियावद् ।। एवं तावत्साधूनां सचित्तमिश्राप्कायपरित्यागेनाचित्तपयसां परिभोगः प्रतिपादितः, ये पुनः शाक्यादयोऽप्कायोपभोगप्रवृत्तास्ते नियमत एवाप्कायं विहिंसन्ति तदाश्रितांश्चान्यानिति, तत्र न केवलं प्राणातिपातापत्तिरेवं तेषां, किमन्यदित्यत आह–

अ दुवा अदिन्नादाणं ।।सू० २६ ।।

'अथ वे'ति पक्षान्तरोपन्यासद्वारेणाभ्युच्चयोपदर्शनार्थः, अशस्त्रोपहताप्कायोपभोगकारिणां न केवलं प्राणातिपातः, अपि त्वदत्तादानमपि तत्तेषां, यतो यैरप्कायजन्तुभिर्यानि शरीराणि निर्वर्त्तितानि तैरदत्तानि ते तान्युपभुञ्जते, यथा-कश्चित् पुमान् सचित्तशाक्यभिक्षुकशरीरकात् खण्डमुत्कृत्य गृह्णीयाद्, अदत्तं हि तस्य तत्, परपरिगृहीतत्वात् परकीयगवाद्यादानवत्, एवं तानि शरीराण्यब्जीवपरिगृहीतानि गृह्णीतोऽदत्तादानमवश्यम्भावि, स्वाम्यनुज्ञानाभावादिति, ननु यस्य तत्तडागकूपादि तेनानुज्ञातं सकृत्तत्पय इति, ततश्च नादत्तादानं, स्वामिनाऽनुज्ञातत्वात्, परानुज्ञातपश्वादिघातवत्, नन्वेतदपि साध्यावस्थमेवोपन्यस्तं, यतः पशुरपि शरीरप्रदानविमुख एव भिन्नार्यमर्यादैरुच्चैरारटन्विशस्यते, ततश्च कथमिव नादत्तादानं स्यात् ?, न चान्यदीयस्यान्यः स्वामी दृष्टः परमार्थचिन्तायां, नन्वेवमशेषलोकप्रसिद्धगोदानादिव्यवहारस्त्रुट्यति, त्रुट्यतु नामैवंविधः पापसम्बन्धः, तद्धि देयं यद्दुःखितं स्वयं न भवति दासीबलीवर्दादिवत्, न चान्येषां दुःखोत्पत्तेः कारणं हलखड्गादिवत्, एतद्व्यतिरिक्तं दातृपरिगृहीत्रोरेकान्तत एवोपकारकं देयं प्रतिजानते जिनेन्द्रमतावलम्बिनः, उक्तं च-'यत् स्वयमदुःखितं स्यान्न च परदुःखे निमित्तभूतमपि । केवलमुपग्रहकरं धर्मकृते तद्भवेद्देयम् ।।१ ।।' इति, तस्मादवस्थितमेतत्-तेषां तददत्तादानमपीति ।। साम्प्रतमेतद्दोषद्वयं स्वसिद्धान्ताभ्युपगमद्वारेण परः परिजिहीर्षुराह-

कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं, अदुवा विभूसाए ।।सू० २७।।

अशस्त्रोपहतोदकारम्भिणो हि चोदिताः सन्त एवमाहुः- यथा नैतत् स्वमनीषिकातः समारम्भयामो वयं, किं त्वागमे निर्जीवत्वेनानिषिद्धत्वात् 'कल्पते' युज्यते 'नः' अस्माकं 'पातुम्' अभ्यवहर्तुमिति, वीप्सया च नानाविधप्रयोजनविषय उपभोगोऽभ्यनुज्ञातो भवति, तथाहि-आजीविकभस्मस्नाय्यादयो वदन्ति-पातुमस्माक कल्पते न स्नातुं वारिणा, शाक्यपरिव्राजकादयस्तु स्नानपानावगाहनादि सर्वं कल्पते इति प्रभाषन्ते, एतदेव

स्वनामग्राहं दर्शयति–अथवोदकं विभूषार्थमनुज्ञातं नः समये, विभूषा-करचरणपायूपस्थमुखप्रक्षालनादिका वस्त्रभण्डकादिप्रक्षालनात्मिका वा, एवं स्नानादिशौचानुष्ठायिनां नास्ति कश्चिद्दोष इति ।। एवं ते परिफल्गुवचसः परिव्राजकादयो निजराद्धान्तोपन्यासेन मुग्धमतीन्विमोह्य किं कुर्वन्तीत्याह–

पुढो सत्थेहिं विउट्टन्ति ।। सू० २८ ।।

'पृथग्' विभिन्नलक्षणैः नानारूपैरुत्सेचनादिशस्त्रैस्ते अनगारायमाणाः 'विउट्टन्ति'त्ति अप्कायजीवान् जीवनाद्व्यावर्त्तयन्ति–व्यपरोपयन्तीत्यर्थः, यदिवा पृथग्विभिन्नैः शस्त्रैरप्कायिकान्विविधं कुट्टन्ति–छिन्दन्तीत्यर्थः, कुट्टेर्द्धातोः छेदनार्थत्वात् ।। अधुनैषामागमानुसारिणामागमासारत्वप्रतिपादनायाह–

एत्थऽवि तेसिं नो निकरणाए ।। सू० २९ ।।

'एतस्मिन्नपि' प्रस्तुते स्वागमानुसारेणाभ्युपगमे सति 'कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं, अदुवा विभूसाए'त्ति एवंरूपस्तेषामयमागमो यद्बलादप्का-यपरिभोगे ते प्रवृत्ताः स स्याद्वादयुक्तिभिरभ्याहतः सन् 'नो निकरणाए'त्ति नो निश्चयं कर्त्तुं समर्थो भवति, न केवलं तेषां युक्तयो न निश्चयायालम्, अपि त्वागमोऽपीत्यपिशब्दार्थः, कथं पुनस्तदागमो निश्चयाय नालमिति, अत्रोच्यते, त एवं प्रष्टव्याः–कोऽयमागमो नाम ? यदादेशात्कल्पते भवतामप्कायारम्भः, त आहुः–प्रतिविशिष्टानुपूर्वविन्यस्तवर्णपदवा-क्यसङ्घात आप्तप्रणीत आगमः, नित्योऽकर्तृको वा ?, ततश्चैवमभ्युपगते यो येन प्रतिपन्न आप्तः स निराकर्त्तव्यः, अनाप्तोऽसौ अप्कायजीवा-परिज्ञानात् तद्वधानुज्ञानाद्वा भवानिव, जीवत्वं चापां प्राक् प्रसाधितमेव, ततस्तत्प्रणीतागमोऽपि सद्धर्म्मचोदनायामप्रमाणम् अनाप्तप्रणीतत्वाद्, रथ्यापुरुषवाक्यवत्, अथ नित्योऽकर्तृकः समयोऽभ्युपगम्यते ततो नित्यत्वं दुष्प्रतिपादं, यतः शक्यते वक्तुं–भवदभ्युपगतः समयः सकर्तृको वर्णपद-वाक्यात्मकत्वात्, विधिप्रतिषेधात्मकत्वात्, उभयसम्मतसकर्तृकग्रन्थ-सन्दर्भवदिति, अभ्युपगम्य वा ब्रूमः– अप्रमाणमसौ, नित्यत्वादाकाशवत्,

यच्च प्रमाणं तदनित्यं दृष्टं प्रत्यक्षादिवदिति, तथा विभूषासूत्रावयवेऽपि पृष्टा न प्रत्युत्तरदाने क्षमाः, यतियोग्यं स्नानं न भवति, कामाङ्गत्वात्, मण्डनवत्, कामाङ्गता च सर्वजनप्रसिद्धा, तथा चोक्तम्-'स्नानं मददर्प्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम् । तस्मात्कामं परित्यज्य, नैव स्नान्ति दमे रताः ।।१।।' शौचार्थोऽपि न पुष्कलो, वारिणा बाह्यमलापनयनमात्रत्वात्, न ह्यन्तर्व्यवस्थितकर्ममलक्षालनसमर्थं वारि दृष्टं, तस्माच्छरीरवाङ्मनसामकुशलप्रवृत्तिनिरोधो भावशौचमेव कर्मक्षयायालं, तच्च वारिसाध्यं न भवति, कुतः ? अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात्सर्वभावानां, न हि मत्स्यादयः तत्र स्थिता मत्स्यादित्वकर्मक्षयभाक्त्वेनाभ्युगम्यन्ते, विना च वारिणा महर्षयो विचित्रतपोभिः कर्म्म क्षपयन्तीति, अतः स्थितमेतत्-तत्समयो न निश्चयाय प्रभवतीति ।। तदेवं निःसपत्नमपां जीवत्वं प्रतिपाद्य तत्प्रवृत्तिनिवृत्तिविकल्पफलप्रदर्शनद्वारेणोपसंजिहीर्षुः सकलमुद्देशार्थमाह-

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थं सत्थं असमारभमाणस्स । इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदयसत्थं समारम्भेज्जा, णेवऽण्णेहिं उदयसत्थं समारंभावेज्जा, उदयसत्थं सभारंभंतेऽवि अण्णे ण समणुजाणेज्जा, जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मेत्तिबेमि ।। सू०३०।।

।। इति तृतीयोऽप्कायोद्देशकः ।।

'एतस्मिन्' अप्काये 'शस्त्रं' द्रव्यभावरूपं समारभमाणस्येत्थेते समारम्भा वधबन्धकारणत्वेनापरिज्ञाता भवन्ति, अत्रैवाप्काये शस्त्रमसमारभमाणस्येत्येते आरम्भा ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाता भवन्ति प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति, तामेव प्रत्याख्यानपरिज्ञां विशेषतो ज्ञपरिज्ञापूर्विकां दर्शयति-'तद्' उदकारम्भणं बन्धायेत्येवं परिज्ञाय मेधावी-मर्यादाव्यवस्थितो नैव स्वयमुदकशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैरुदकशस्त्रं समारम्भयेत्, नैवान्यानुदकशस्त्रं समारभमाणान्समनुजानीयात्, यस्यैते उदकशस्त्रसमा-

रम्भाः द्विधा परिज्ञाता भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मा भवति । ब्रवीमीति पूर्ववद् । इति शस्त्रपरिज्ञायां तृतीयोद्देशकः समाप्तः ।।१-३।।

।। अथ प्रथमाध्ययने चतुर्थः तेजस्कायोद्देशकः ।।

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके मुनित्वप्रतिपत्तये अप्कायः प्रतिपादितः तदधुना तदर्थमेव क्रमायातस्तेजस्कायप्रतिपादनायायमुद्देशकः समारभ्यते-तस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि तावद्यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे तेज उद्देशक इति नाम, तत्र तेजसो निक्षेपादीनि द्वाराणि वाच्यानि, अत्र च पृथिवीविकल्पतुल्यत्वात् केषाञ्चिदतिदेशो द्वाराणामपरेषां तद्विलक्षणत्वात् अपोद्धार इत्येतत् द्वयमुररीकृत्य निर्युक्तिकृद् गाथामाह-

तेउस्सवि दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुवभोगसत्थे य ।।११६।।

'तेजसोऽपि' अग्नेरपि 'द्वाराणि' निक्षेपादीनि यानि पृथिव्याः समधिगमेऽभिहितानि तान्येव वाच्यानि, अपवादं दर्शयितुमाह-'नानात्वं' भेदो विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रेषु, तुरवधारणे, विधानादिष्वेव च नानात्वं नान्यत्रेति, चशब्दाल्लक्षणद्वारपरिग्रहः ।। यथाप्रतिज्ञातनिर्वहणार्थमादिद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह-

दुविहा य तेउजीवा सुहुमा तह बायरा य लोगंमि ।
सुहुमा य सव्वलोए पंचेव य बायरविहाणा ।।११७।।

स्पष्टा ।। बादरपञ्चभेदप्रतिपादनायाह-

इंगाल अगणि अच्चो जाला तह मुम्मुरे य बोद्धव्वे ।
बायरतेउविहाणा पंचविहा वण्णिया एए ।।११८।।

दग्धेन्धनो विगतधूमज्वालोऽङ्गारः, इन्धनस्थः प्लोषक्रियाविशिष्टरूपः तथा विद्युदुल्काऽशनिसङ्घर्षसमुत्थितः सूर्यमणिसंसृतादिरूपश्चाग्निः, दाह्यप्रतिबद्धो ज्वालाविशेषोऽर्च्चिः, ज्वाला छिन्नमूलाऽनङ्गारप्रतिबद्धा, प्रविरलाग्निकणानुविद्धं भस्म मुर्मुरः, एते बादरा अग्निभेदाः पञ्च भवन्तीति

।। एते च बादराग्नयः स्वस्थानाङ्गीकरणान्मनुष्यक्षेत्रेऽर्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेष्वव्याघातेन पञ्चदशसु कर्म्मभूमिषु व्याघाते सति पञ्चसु विदेहेषु नान्यत्र, उपपाताङ्गीकरणेन लोकासङ्ख्येयभागवर्तिनः तथा चागमः-'उववाएणं दोसु उड्ढकवाडेसु तिरियलोयतट्टे(ट्ठे) य' अस्यायमर्थः-अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रबाहल्ये पूर्वापरदक्षिणोत्तरस्वयम्भूरमणपर्यन्तायते ऊद्र्ध्वालोकप्रमाणे कपाटे तयोः प्रविष्टा बादराग्निषूत्पद्यमानकास्तद्व्यपदेशं लभन्ते, तथा 'तिरियलोयतट्टे(ट्ठे)य' त्ति तिर्यग्लोकस्थालके च व्यवस्थितो बादराग्निषूत्पद्यमानो बादराग्निव्यपदेशभाग् भवति । अन्ये तु व्याचक्षते-तयोस्तिष्ठतीति तत्स्थः, तिर्यग्लोकश्चासौ तत्स्थश्च तिर्यग्लोकतत्स्थः, तत्र च स्थित उत्पित्सुर्बादराग्निव्यपदेशमासादयति, अस्मिंश्च व्याख्याने कपाटान्तर्गत एव गृह्यते, स च द्वयोरूद्र्ध्वकपाटयोरित्यनेनैवोपात्त इति तद्व्याख्यानाभिप्रायं न विद्मः । कपाटस्थापना चेयम् । समुद्घातेन सर्वलोकवर्त्तिनः, ते च पृथिव्यादयो मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता बादराग्निषूत्पद्यमानास्तद्व्यपदेशभाजः सर्वलोकव्यापिनो भवन्ति, यत्र च बादराः पर्याप्तकास्तत्रैव बादरा अपर्याप्तकाः, तन्निश्रया तेषामुत्पद्यमानत्वात्, तदेवं सूक्ष्मा बादराश्च पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन प्रत्येकं द्विधा भवन्ति, एते च वर्णगन्धरसस्पर्शादिशैः सहस्राग्रशो भिद्यमानाः सङ्ख्येययोनिप्रमुखशतसहस्रभेदपरिमाणा भवन्ति, तत्रैषां संवृता योनिरुष्णा च सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा, सप्त चैषां योनिलक्षा भवन्ति ।। साम्प्रतं चशब्दसमुच्चितं लक्षणद्वारमाह-

जह देहपरिणामो रत्तिं खज्जोयगस्स सा उवमा ।
जरियस्स य जह उम्हा तओवमा तेउजीवाणं ।।११९।।

'येथे'ति दृष्टान्तोपन्यासार्थः 'देहपरिणामः' प्रतिविशिष्टा शरीरशक्तिः 'रात्रा'विति विशिष्टकालनिर्देशः 'खद्योतक' इति प्राणविशेषपरिग्रहः, यथा तस्यासौ देहपरिणामो जीवप्रयोगनिवृत्तशक्तिराविश्वकास्ति, एवमङ्गारादीनामपि प्रतिविशिष्टा प्रकाशादिशक्तिरनुमीयते जीवप्रयोगविशेषावि-

र्भावितेति । यथा वा-ज्वरोष्मा जीवप्रयोगं नातिवर्त्तते, जीवाधिष्ठितशरीरकानुपात्येव भवति, एषैवोपमाऽऽग्नेयजन्तूनां, न च मृता ज्वरिणः क्वचिदुपलभ्यन्ते, एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामग्नेः सचित्तता मुक्तकग्रन्थोपपत्तिमुखेन प्रतिपादिता, सम्प्रति प्रयोगमारोप्यते अयमेवार्थः-जीवशरीराण्यङ्गारादयः, छेद्यत्वादिहेतुगणान्वितत्वात्, सास्नाविषाणादिसङ्घातवत्, तथा आत्मसंयोगाविर्भूतोऽङ्गारादीनां प्रकाशपरिणामः, शरीरस्थत्वात्, खद्योतकदेहपरिणामवत्, तथा आत्मसम्प्रयोगपूर्वकोऽङ्गारादीनामूष्मा, शरीरस्थत्वात्, ज्वरोष्मवत्, न चादित्यादिभिरनेकान्तः, सर्वेषामात्मप्रयोगपूर्वकं यत उष्णपरिणामभाक्त्वं तस्मान्नानेकान्तः, तथा सचेतनं तेजो, यथायोग्याहारोपादानेन वृद्धिविशेषतद्विकारवत्त्वात्, पुरुषवत्, एवमादिना लक्षणेनाग्नेया जन्तवो निश्चेया इति ।। उक्तं लक्षणद्वारं, तदनन्तरं परिणामद्वारमाह-

जे बायरपज्जत्ता पलिअस्स असंखभागमित्ता उ ।
सेसा तिण्णिवि रासी वीसुं लोगा असंखिज्जा ।।१२०।।

ये बादरपर्याप्तानलजीवाः क्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रवर्त्तिप्रदेशराशिपरिमाणाः भवन्ति, ते पुनर्बादरपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्योऽसङ्ख्येयगुणहीनाः, शेषास्त्रयोऽपि राशयः पृथ्वीकायवद्भावनीयाः, किन्तु बादरपृथिवीकायापर्याप्तकेभ्यो बादराग्न्यपर्याप्तका असंख्येयगुणहीनाः सूक्ष्मपृथिवीकायापर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माग्नेयापर्याप्तका विशेषहीना सूक्ष्मपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माग्नेयपर्याप्तका विशेषहीनाः इति ।। साम्प्रतमुपभोगद्वारमाह-

दहने पयावण पगासणे य भत्तकरणे य सेए य ।
बायरतेउक्काए उवभोगगुणा मणुस्साणं ।।१२१।।

दहनं-शरीराद्यवयवस्य वाताद्यपनयनार्थं प्रकृष्टं तापनं प्रतापनं-शीतापनोदाय प्रकाशकरणमुद्योतकरणं-प्रदीपादिना भक्तकरणम्-ओदनादिरन्धनं स्वेदोज्वरविसूचिकादीनाम्, इत्येवमादिष्वनेकप्रयोजनेषूपस्थितेषु मनुष्याणां बादरतेजस्कायविषया उपभोगरूपा गुणा उपभोगगुणा भव-

न्तीति ।। तदेवमेवमादिभिः कारणैः समुपस्थितैः सततमारम्भप्रवृत्ता गृहिणो यत्याभासा वा सुखैषिणस्तेजस्कायजन्तून् हिंसन्तीति दर्शयितुमाह-

एएहिं कारणेहिं हिंसंती तेउकाइए जीवे ।
सायं गवेसमाणा परस्स दुक्खं उदीरंति ।।१२२।।

'एतैः'दहनादिभिः कारणैस्तेजस्कायिकाम् जीवान् 'हिंसन्ती'ति सङ्घट्टनपरितापनापद्रावणानि कुर्वन्ति 'सातं' सुखं तदात्मनोऽन्वेष्यन्तः 'परस्य' बादराग्निकायस्य दुःखम् 'उदीरयन्ति' उत्पादयन्तीति ।। साम्प्रतं शस्त्रद्वारं, तच्च द्रव्यभावशस्त्रभेदात् द्विधा, द्रव्यशस्त्रमपि समासविभागभेदात् द्विधैव, तत्र समासतो द्रव्यशस्त्रप्रतिपादनायाह-

पुढवी आउक्काए उल्ला य वणस्सई तसा पाणा ।
बायरतेउक्काए एयं तु समासओ सत्थं ।।१२३।।

'पृथिवी' धूलिः अप्कायश्च आर्द्रश्च वनस्पतिः त्रसाश्च प्राणिनः, एतद्-बादरतेजस्कायजन्तूनां 'समासतः' सामान्येन शस्त्रमिति ।। विभागतो द्रव्यशस्त्रस्वरूपमाह-

किंचि सकायसत्थं किंची परकाय तदुभयं किंची ।
एयं तु दव्वसत्थं भावे य असंजमो सत्थं ।।१२४।।

किञ्चिच्छस्त्रं स्वकाय एव अग्निकाय एव अग्निकायस्य, तद्यथा-तार्णोऽग्निः पर्णाग्नेः शस्त्रमिति, किञ्चिच्च परकायशस्त्रम्-उदकादि, उभयशस्त्रं पुनः-तुषकरीषादिव्यतिमिश्रोऽग्निरपराग्नेः, तुशब्दो भावशस्त्रापेक्षया विशेषणार्थः, 'एतत्तु' पूर्वोक्तं समासविभागरूपं पृथिवीस्वकायादि द्रव्य-शस्त्रमिति । भावशस्त्रं दर्शयतिभावे शस्त्रम् असंयमोदुष्प्रणिहितमनोवा-क्कायलक्षण इति ।। उक्तव्यतिरिक्तद्वारातिदेशद्वारेणोपसञ्जिहीर्षु-र्निर्युक्तिकृदाह-

सेसाइं दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
एवं तेउद्देसे निज्जुत्ती कित्तिया एसा ।।१२५।।

उक्तशेषाणि द्वाराणि तान्येव यानि पृथिव्युद्देशकेऽभिहितानि 'एवम्'

उक्तप्रकारेण तेजस्कायाभिधानोद्देशके निर्युक्तिः 'कीर्त्तिता' व्यावर्णिता भवतीति ।। साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्-

से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ ।।सू० ३१ ।।

अस्य च सम्बन्धः प्राग्वद्वाच्य इति, येन मया सामान्यात्मपदार्थ-पृथिव्यप्कायजीवप्रविभागव्यावर्णनमकारि स एवाहमव्यवच्छिन्न-ज्ञानप्रवाहस्तेजोजीवस्वरूपोपलम्भसमुपजनितजिनवचनसम्मदो ब्रवीमि, किं पुनस्तदिति दर्शयति- 'नैवे'त्यादि, इह हि प्रकरणसम्बन्धाल्लोकशब्दे-नाग्निकायलोकोऽभिधित्सितः, अतस्तमग्निलोकं जीवत्वेन नैव 'स्वयम्' आत्मनाऽभ्याचक्षीत-नैवापह्नुवीतेत्यर्थः, एतदभ्याख्याने ह्यात्मनोऽपि ज्ञानादिगुणकलापानुमितस्याभ्याख्यानमवाप्नोति, अथ च प्राक् प्रसाधित-त्वादभ्याख्यानं नैवात्मनो न्याय्यम्, एवं तेजस्कायस्यापि प्रसाधितत्वात् अभ्याख्यानं क्रियमाणं न युक्तिपथमवतरति, एवं चास्य युक्त्यागमबल-प्रसिद्धस्याभ्याख्याने क्रियमाणे सत्यात्मनोऽप्यहंप्रत्ययसिद्धस्याभ्याख्यानं भवतः प्राप्तम् । एवमस्त्विति चेत्, तन्नेति दर्शयति- 'नेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा' नैवात्मानं-शरीराधिष्ठातारं ज्ञानगुणं प्रत्यात्मसंवेद्यं प्रत्याचक्षीत, तस्य शरीराधिष्ठातृत्वेन आहृतमिदं शरीरं केनचिदभिसन्धिमता, तथा त्यक्तमिदं शरीरं केनचिदभिसन्धिमतैवेत्येवमादिभिर्हेतुभिः प्रसाधितत्वात्, न च प्रसाधितप्रसाधनं पिष्टपेषणवत् विद्वज्जनमनांसि रञ्जयति, एवं च सत्यात्मवत्प्रसाधितमग्निलोकं यः प्रत्याचक्षीत सोऽतिसाहसिक आत्मा-नमभ्याख्याति-निराकरोति, यश्चात्माभ्याख्यानप्रवृत्तः स सदैवाग्निलोकम-भ्याख्याति, सामान्यपूर्वकत्वाद्विशेषाणां, सति ह्यात्मसामान्ये पृथिव्या-द्यात्मविभागः सिद्ध्यति, नान्यथा, सामान्यस्य विशेषव्यापकत्वात्, व्यापकविनिवृत्तौ च व्याप्यस्याप्यवश्यंभाविनी विनिवृत्तिरितिकृत्वा ।

एवमयमग्निलोकः सामान्यात्मवन्नाभ्याख्यातव्य इति प्रदर्शितम्, अधुनाऽग्निजीवप्रतिपत्तौ सत्यां तद्विषयसमारम्भकटुकफलपरिहारोपन्यासाय सूत्रमाह-

जे दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे जे असत्थस्स खेयण्णे से दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे ।।सू०३२।।

'य' इति मुमुक्षुदीर्घलोको-वनस्पतिर्यस्मादसौ कायस्थित्या परिमाणेन शरीरोच्छ्रयेण च शेषैकेन्द्रियेभ्यो दीर्घो वर्त्तते, तथाहि-कायस्थित्या तावत् 'वणस्सइकाइए णं भंते ? वणस्सइकाइएत्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?, गोयमा ! अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणि-अवसप्पिणिओ खेत्तओ अणंता लोया असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पुग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागे' (वनस्पतिकायो भदन्त ! वनस्पतिकाय इति कालतः कियच्चिरं भवति ? गौतम ! अनन्तं कालम्, अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, क्षेत्रतोऽनन्ता लोकाः, असंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, ते पुद्गलपरावर्ता आवलिकाया असंख्येये भागे ।) परिमाणतस्तु 'पडुपन्नवणस्सइकाइयाणं भंते ! केवतिकालस्स निल्लेवणा सिया ?, गोयमा ! पडुप्पन्नवणस्सइकाइयाणं नत्थि निल्लेवणा' (प्रत्युत्पन्नवनस्पतिकायिकानां भदन्त ! कियता कालेन निर्लेपना स्यात् ?, गौतम ! प्रत्युत्पन्नवनस्पतिकायिकानां नास्ति निर्लेपना ।) तथा शरीरोच्छ्रयाच्च दीर्घो वनस्पतिः 'वणस्सइकाइयाणं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?, गोयमा ! साइरेगं जोयणसहस्सं सरीरोगाहणा' (वनस्पतिकायिकानां भदन्त ! का महती शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता ?, गौतमा ! सातिरेकं योजनसहस्रं शरीरावगाहना ।) न तथाऽन्येषामेकेन्द्रियाणाम्, अतः स्थितमेतत्-सर्वथा दीर्घलोको वनस्पतिरिति, अस्य च शस्त्रमग्निः, यस्मात्स हि प्रवृद्धज्वालाकलापाकुलः सकलतरुगणप्रध्वंसनाय प्रभवति, अतोऽसौ तदुत्सादकत्वाच्छस्त्रं, ननु च सर्वलोकप्रसिद्ध्या कस्मादग्निरेव नोक्तः ?, किं वा प्रयोजनमुररीकृत्योक्तं दीर्घलोकशस्त्रमिति, अत्रोच्यते, प्रेक्षापूर्वकारितया, न निरभिप्रायमेतत्कृतमिति, यस्मादयमुत्पाद्यमानो ज्वाल्यमानो

वा हव्यवाहः समस्तभूतग्रामघाताय प्रवर्त्तते, वनस्पतिदाह–प्रवृत्तस्तु बहुविधसत्त्वसंहतिविनाशकारी विशेषतः स्यात्, यतो वनस्पतौ कृमि–पिपीलिकाभ्रमरकपोतश्वापदादयः सम्भवन्ति, तथा पृथिव्यपि तरुकोटर–व्यवस्थिता स्यात्, आपोऽप्यवश्यायरूपाः, वायुरपीषच्चञ्चलस्वभा–वकोमलकिशलयानुसारी सम्भाव्यते, तदेवमग्निसमारम्भप्रवृत्तः एतावतो जीवान्नाशयति, अस्यार्थस्य सूचनाय दीर्घलोकशस्त्रग्रहणमकरोत् सूत्रकार इति, तथा चोक्तम्– 'जायतेयं न इच्छन्ति, पावगं जलइत्तए । तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओऽवि दुरासयं ।।१ ।। पाइणं पडिणं वावि, उड्ढं अणुदिसा–मवि । अहे दाहिणओ वावि, दहे उत्तरओऽवि य ।।२ ।। भूयाणमेसमा–घाओ, हव्वाहो न संसओ । तं पईवपयावट्ठा, संजओ किंचि नारभे ।।३ ।।' (जाततेजसं नेच्छन्ति पावकं ज्वलयितुम् । तीक्ष्णमन्यतरत् शस्त्रं सर्वतोऽपि दुराश्रयम् ।।१ ।। प्राचीनं प्रतीचीनं वापि ऊर्ध्वमनुदिक्ष्वपि । अधो दक्षिणतो वापि दहति उत्तरतोऽपि च ।।२ ।। भूतानामेष आघातो हव्यवाहो न संशयः । तत् प्रदीपप्रतापार्थं संयतः किञ्चिन्नारभेत ।।३ ।।) अथवा बादरतेजस्कायाः पर्याप्तकाः स्तोकाः, शेषाः पृथिव्यादयो जीवकाया बहवः, भवस्थितिरपि त्रीण्यहोरात्राणि स्वल्पा इतरेषां पृथिव्यब्वायु–वनस्पतीनां यथाक्रमं द्वाविंशतिसप्तत्रिदशवर्षसहस्रपरिमाणा दीर्घा अवसेया इति, अतो दीर्घलोकः–पृथिव्यादिस्तस्य शस्त्रम्–अग्निकायस्तस्य 'क्षेत्रज्ञो' निपुणः अग्निकायं वर्णादितो जानातीत्यर्थः, 'खेदज्ञो वा' खेदः–तद्व्यापारः सर्वसत्त्वानां दहनात्मकः पाकाद्यनेकशक्तिकलापोपचितः प्रवरमणिरिव जाज्वल्यमानो लब्धाग्निव्यपदेशः यतीनामनारम्भणीयः, तमेवंविधं खेदम्–अग्निव्यापारं जानातीति खेदज्ञः, अतो य एव दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञः स एव 'अशस्त्रस्य' सप्तदशभेदस्य संयमस्य खेदज्ञः, संयमो हि न कञ्चिज्जीवं व्यापादयति अतोऽशस्त्रम्, एवमनेन संयमेन सर्वसत्त्वाभयप्रदायिनाऽनुष्ठीय–मानेनाग्निजीवविषयः समारम्भः शक्यः परिहर्तुं पृथिव्यादिकायसमारम्भ–श्चेत्येवमसौ संयमे निपुणमतिर्भवति, ततश्च निपुणमतित्वाद्विदितपरमार्थोऽ–

ग्निसमारम्भाद्व्यावृत्य संयमानुष्ठाने प्रवर्त्तते । इदानीं गतप्रत्यागतलक्षणेनाविनाभावित्वप्रदर्शनार्थं विपर्ययेण सूत्र वयवपरामर्शं करोति-'जे असत्थस्से'त्यादि, यश्चाशस्त्रे-संयमे निपुण: स खलु दीर्घलोकशस्त्रस्य-अग्ने: क्षेत्रज्ञ: खेदज्ञो वा, संयमपूर्वकं ह्यग्निविषयखेदज्ञत्वम्, अग्निविषयखेदज्ञतापूर्वकं च संयमानुष्ठानम्, अन्यथा तदसम्भव एवेत्येतद्गतप्रत्यागतफलमाविर्भावितं भवति ।। कै: पुनरिदमेवमुपलब्धमित्यत आह-'वीरेही'त्यादि, अथवा सद्वृत्तप्रसिद्धौ सत्यां वाक्यप्रसिद्धिर्भवतीत्यत उपदिश्यते-

वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं, संजएहिं सया जत्तेहिं सया अप्पमत्तेहिं ।।सू. ३३ ।।

घनघातिकर्मसङ्घातविदारणानन्तरप्राप्तातुलकेवलश्रिया विराजन्त इति वीरा:-तीर्थंकरास्तैर्वीरै रर्थतो दृष्टमेतद्गणधरैश्च सूत्रतोऽग्निशस्त्रं दृष्टम् अशस्त्रं संयमस्वरूपं चेति । किं पुनरनुष्ठायेदं तैरुपलब्धमिति, अत्रोच्यते, अभिभूये'ति अभिभवो नामादिश्चतुर्द्धा, द्रव्याभिभवो-रिपुसेनादिपराजय: आदित्यतेजसा वा चन्द्रग्रहनक्षत्रादितेजोऽभिभव:, भावाभिभवस्तु परीषहोपसर्गानीकज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायकर्म्मनिर्द्दलनं, परीषहोपसर्गादिसेनाविजयाद्विमलं चरणं, चरणशुद्धेर्ज्ञानावरणादिकर्मक्षय: तत्क्षयान्निरावरणमप्रतिहतमशेषज्ञेयग्राहि केवलज्ञानमुपजायते,, इदमुक्तं भवति-परीषहोपसर्गज्ञानदर्शनावरणीयमोहान्तरायाण्यभिभूय केवलमुत्पाद्य तैरुपलब्धमिति । यथाभूतैस्तैरिदमुपलब्धं तद्दर्शयति-'संजएहिं' सम्यग् यता: संयता: प्राणातिपातादिभ्यस्तै:, तथा 'सदा' सर्वकाल चरणप्रतिपत्तौ मूलोत्तरगुणभेदायां निरतिचारत्वाद्यत्नवन्तस्तै:, तथा 'सदा' सर्वकालं न विद्यते प्रमादो-मद्यविषयकषायविकथानिद्राख्यो येषां तेऽप्रमत्तास्तै:, एवं भूतैर्महावीरै: केवलज्ञानचक्षुषेदं दीर्घलोकशस्त्रम् अशस्त्रं च संयमो दृष्टम्-उपलब्धमिति । अत्र च यत्नग्रहणादीर्यासमित्यादयो गुणा गृह्यन्ते, अप्रमादग्रहणात्तु मद्यादिनिवृत्तिरिति । तदेवमेतत्प्रधानपुरुषप्रतिपादितमग्निशस्त्रमपायदर्शनादप्रमत्तै: साधुभि: परिहार्यमिति ।। एवं प्रत्यक्षी-

कृतानेकदोषजालमप्यग्निशस्त्रमुपभोगलोभात्प्रमादवशगा ये न परिहरन्ति तानुद्दिश्य विपाकदर्शनायाह-

जे पमत्ते गुणट्ठीए से हु दंडेत्ति पवुच्चइ ।। सू0 ३४।।

यो हि प्रमत्तो भवति मद्यविषयादिप्रमादैरसंयतो 'गुणार्थी' रन्धन-पचनप्रकाशातापनाद्यग्निगुणप्रयोजनवान् स दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायोऽग्नि-शस्त्रसमारम्भकतया प्राणिनां दण्डहेतुत्वाद्दण्डः प्रकर्षणोच्यते प्रोच्यते, आयुर्घृतादिव्यपदेशवदिति ।। यतश्चैवं ततः किं कर्त्तव्यमित्यत आह-

तं परिण्णाय मेहावी इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं ।।सू0 ३५।।

'तम्' अग्निकायसमारम्भं दण्डफलं परिज्ञाय-ज्ञपरिज्ञाप्रत्याख्यान-परिज्ञाभ्यां 'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थितो वक्ष्यमाण प्रकारेण व्यवच्छेद-मात्मन्याचिनोतीति । तमेव प्रकारं दर्शयितुमाह- 'इयाणी' त्यादि, यमहमग्निसमारम्भं विषयप्रमादेनाकुलीकृतान्तःकरणः सन् पूर्वमकार्षं तमिदानीं जिनवचनोपलब्धाग्निसमारम्भदण्डतत्त्वः नो करोमीति ।। अन्ये त्वन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयितुमाह-

लज्जमाणा पुढो पास-अणगारा मोत्ति एगे पवदमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारम्भेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति ।१ तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव अग-णिसत्थं समारभइ अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारंभावेइ अण्णे वा अगणिसत्थं समारभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहियाए २। से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णायं भवति-एस खलु गंथे एस खलु मोहे, एस खलु मारे एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभमाणे अण्णे

अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ३ ।।सू0 ३६।।

अस्य ग्रन्थस्योक्तार्थस्यायमर्थोलेशतः प्रदर्श्यते-'लज्जमानाः' स्वागमोक्तानुष्ठानं कुर्वाणाः सावद्यानुष्ठानेन वा लज्जां कुर्वाणाः 'पृथग्' विभिन्नाः शाक्यादयः 'पश्ये'ति संयमानुष्ठाने स्थिरीकरणार्थं शिष्यस्य चोदना, अनगारा वयमित्येके प्रवदमानाः, किं तैर्विरूपमाचरितं येनैवं प्रदर्श्यन्त इति दर्शयति-यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैरग्निकर्मसमारम्भेण अग्निशस्त्रं समारभमाणः सन्नन्यानन्नेकरूपान् प्राणिनो विहिनस्ति १, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, यथाऽस्यैव परिफल्गुजीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रति-घातहेतुं यत्करोति तद्दर्शयति-'स' परिवन्दनाद्यर्थी स्वत एवाग्निशस्त्रं समारभते तथा अन्यैश्चाग्निशस्त्रं समारम्भयति तथाऽन्यांश्च अग्निशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते, तच्चाग्नेः समारम्भणं 'से' तस्य सुखलिप्सोरमुत्रान्यत्र चाहिताय भवति, तथा तदेव च तस्याबोधिलाभाय भवति २, 'स' इति यस्यैतदसदाचरणं प्रद-र्शितं, स तु शिष्यस्तदग्निसमारम्भणं पापायेत्येवं सम्बुध्यमान 'आदानीयं' ग्राह्यं समयग्दर्शनादि 'सम्यगुत्थाय' अभ्युपगम्य श्रुत्वा भगवदन्तिके-ऽनगाराणां वा इहैकेषां साधूनां ज्ञातं भवति, किम् ?, तद्दर्शयति-'एष' अग्निसमारम्भः ग्रन्थः-कर्महेतुत्वाद् एष एव मोह एष एव मार एष एव नरकस्तद्धेतुत्वादिति भावः, इत्येवमर्थं च गृद्धो लोको यत्करोति तद्दर्शयति-यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैरग्निकर्म समारभते तदारम्भेण चाग्निशस्त्र समारभते तच्चारभमाणोऽन्याननेकरूपान् प्राणिनो विहिनस्तीति ३ ।। कथं पुनरग्नि-समारम्भप्रवृत्ता नानाविधान् प्राणिनो विहिंसन्तीति दर्शयितुमाह-

से बेमि-संति पाणा पुढवीनिस्सिया तणणिस्सिया पत्तणि-स्सिया कट्ठनिस्सिया गोमयणिस्सिया कयवरणिस्सिया, संति संपा-तिमा पाणा आहच्च संपयंति, अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघायमा-वज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति जे तत्थ

परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति ।। सू० ३७।।

तदहं ब्रवीमि यथा नानाविधजीवहिंसनमग्निकायसमारम्भेण भवतीति । यथाप्रतिज्ञातार्थं दर्शयति–'सन्ति' विद्यन्ते 'प्राणा' जन्तवः, पृथिवीकायनिश्रिताः पृथिवीकायत्वेन परिणता इत्यर्थः, तदाश्रिता वा कृमिकुन्थुपिपीलिकागण्डूपदाहिमण्डूकवृश्चिककर्क्कटकादयः, तथा वृक्षगुल्मलतावितानादयः, तथा तृणपत्रनिश्रिताः पतङ्गेलिकादयः, तथा काष्ठनिश्रिता–घुणोद्देहिकापिपीलिकाऽण्डादयः, गोमयनिश्रिताः–कुन्थुपनकादयः, कचवरः–पत्रतृणधूलिसमुदायस्तन्निश्रिताः कृमिकीटपतङ्गादयः । तथा 'सन्ति' विद्यन्ते सम्पतितुमुप्लुत्योत्प्लुत्य गन्तुमागन्तुं वा शीलं येषां ते सम्पातिनः प्राणि नोजीवा मक्षिकाभ्रमरपतङ्गमशकपक्षिवातादयः, एते च सम्पातिनः 'आहत्य' उपेत्य स्वत एव, यदिवा अत्यर्थं कदाचिद्वा अग्निशिखायां सम्पतन्ति च । तदेवं पृथिव्यादिनिश्रितानां जीवानां यद्भवति तद्दर्शयितुमाह–'अगणिं चे'त्यादि, रन्धनपचनतापनाद्यग्निगुणार्थिभिरवश्यमग्निसमारम्भो विधेयः, तत्समारम्भे च पृथिव्यादिनिश्रितानां जीवानामेता वक्ष्यमाणा अवस्था भवन्ति, छान्दसत्वात् तृतीयार्थे द्वितीया, ततश्चायमर्थः–अग्निना 'स्पृष्टाः' छुप्ता एके केचन सङ्घातम्–अधिकं गात्रसङ्कोचनं मयूरपिच्छवदापद्यन्ते, चशब्दस्याधिक्यार्थत्वात्, खलुशब्दोऽवधारणे, अग्नेरेवायं प्रतापो नापरस्येति, यदिवा सप्तम्यर्थे द्वितीया स्पृष्टशब्दश्च पतितवचनः, ततश्चायमर्थो भवति–अग्नावेव स्पृष्टाः–पतिता 'एके'शलभादयः 'सङ्घातं' समेकीभावेनाधिकं गात्रसङ्कोचनम् 'आपद्यन्ते' प्राप्नुवन्ति, ये च 'तत्र' अग्नौ पतिताः सङ्घातमापद्यन्ते ते प्राणिनः 'तत्र' अग्नौ पर्यापद्यन्ते, पर्यापत्तिः–सम्मूर्छनम् ऊष्माभिभूता मूर्छामापद्यन्ते इत्यर्थः । अथ किमर्थं सूत्रकृता विभक्तिपरिणामोऽकारीति, उच्यते, मागधदेशीसमनुवृत्तेः व्याख्याविकल्पप्रद–र्शनार्थं वा, अध्याहारादयोऽपि व्याख्याङ्गानीत्यनेन शिष्यो ज्ञापितो भवति । अथ के पुनस्तेऽध्याहारादय इति ? उच्यन्ते अध्याहारो विपरिणामो व्यवहितकल्पना गुणकल्पना लक्षणा

वाक्यभेदश्चेति, इह च द्वितीयाविभक्तेः सप्तमीपरिणामः कृत इति । ये च 'तत्र' अग्नौ पर्यापद्यन्ते ते प्राणिनः कृमिपिपीलिकाभ्रमरनकुलादयस्तत्राग्नावपद्रावन्ति-प्राणान् मुञ्चन्तीत्यर्थः, तदेवमग्निसमारम्भे सति न केवलमग्निजन्तूनां विनाशः किं त्वन्येषामपि पृथिवीतृणपत्रकाष्ठगोमयकचवराश्रितानां सम्पातिमानां च व्यापत्तिरवश्यम्भाविनीति, अत एव च भगवत्यां भगवतोक्तम्-'दो पुरिसा सरिसवया अन्नमन्नेहिं सद्धिं अगणिकायं समारं-भंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं समुज्जालेति, एगे विज्झवेति, तत्थ णं के पुरिसे महाकम्मयराए ? के पुरिसे अप्पकम्मयराए ?, गोयमा ! जे उज्जालेति से महाकम्मयराए, जे विज्झवेति से अप्पकम्मयराए' ।। (द्वौ पुरुषौ सदृशवयसौ अन्योऽन्यं समकमग्निकायं समारम्भयतः, तत्रैकः पुरुषोऽग्निकायं समुज्ज्वलयति, एको विध्यापयति, तत्र कः पुरुषो महाकर्मा कः पुरुषोऽल्पकर्मा ?, गौतम ! य उज्ज्वलयति स महाकर्मा यो विध्याप-यति सोऽल्पकर्मा ।) तदेवं प्रभूतसत्त्वोपमर्द्दनकरमग्न्यारम्भं विज्ञाय मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमातभिश्च तत्परिहारः कार्य इति दर्शयितुमाह-

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थं सत्थं असामरंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारंभे नेवऽण्णेहिं अगणिसत्थं समारंभावेज्जा अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे न समणुजाणेज्जा, जस्सेते अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मेत्तिबेमि ।। सूत्रं ३८ ।।

।। इति चतुर्थ उद्देशकः ।।१-४।।

'अत्र' अग्निकाये 'शस्त्रं' स्वकायपरकायभेदभिन्नं 'समारभमाणस्य' व्यापारयत इत्येते आरम्भाः पचनपाचनादयो बन्धहेतुत्वेनापरिज्ञाता भवन्ति, तथा अत्रैवाग्निकाये शस्त्रमसमारंभमाणस्यैते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति, यस्यैते अग्निकायसमारम्भा ज्ञपरिज्ञया ज्ञाता भवन्ति प्रत्याख्यान-

परिज्ञया च परिहृता भवन्ति स एव मुनिः परमार्थतः परिज्ञातकर्म्मेति ब्रवीमीति पूर्ववत् । इति शस्त्रपरिज्ञायां चतुर्थोद्देशकटीका समाप्ता ।।१-४।।

।। अथ प्रथमाध्ययने पञ्चमो वनस्पतिकायोद्देशकः ।।

उक्तश्चतुर्थोद्देशकः, साम्प्रतं पञ्चमः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके तेजस्कायः प्रतिपादितः, तदनन्तरमविकलसुसाधुगुणप्रतिपत्तये क्रमायातवायुकायप्रतिपादनावसरे वनस्पतिकायजीवस्वरूपमाविर्भाव्यते, किं पुनः क्रमोल्लङ्घनकारणमिति, उच्यते, एष हि वायुरचाक्षुपत्वाद्दुःश्रद्धानः, अतः समधिगताशेषपृथिव्याद्येकेन्द्रियप्राणिगणस्वरूपः शिष्यः स्वय(सुख)मेव वायुजीवस्वरुपं प्रतिपत्स्यते, स एव च क्रमो येन शिष्याः जीवादितत्त्वं प्रति प्रोत्सहन्ते यथा-वनस्पतिपत्तुमिति, वनस्पतिकायस्तु समस्तलोकप्रत्यक्षपरिस्फुटजीवलिङ्गकलापोपेतः, अतः स एव तावत्प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे वनस्पत्युद्देशकः, तत्र वनस्पतेः स्वभेदकलापप्रतिपादनाय पूर्वप्रसिद्धार्थातिदेशद्वारेण निर्युक्तिकृदाह-

पुढवीए जे दारा वणस्सइकाएऽवि हुंति ते चेव ।
नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुवभोगसत्थे य ।।१२६।।

यानि पृथवीकायसमधिगतये द्वाराण्युक्तानि तान्येव वनस्पतौ द्रष्टव्यानि, नानात्वं तु प्ररूपणापरिमाणोपभोगशस्त्रेषु चशब्दाल्लक्षणे च द्रष्टव्यमिति ।। तत्रादौ प्ररूपणास्वरूपनिर्ज्ञापनायाह-

दुविह वणस्सइजीवा सुहुमा तह बायरा य लोगंमि ।
सुहुमा य सव्वलोए दो य भवे बायरविहाणा ।।१२७।।

वनस्पतयो द्विविधाः-सूक्ष्मा बादराश्च, सूक्ष्माः सर्वलोकापन्नाश्चक्षुर्ग्राह्याश्च न भवन्त्येकाकारा एव, बादराणां पुनर्द्वेविधाने ।। के पुनस्ते बादरविधाने इत्यत आह-

पत्तेया साहारण बायरजीवा समासओ दुविहा ।
बारसविहऽणेगविहा समासओ छव्विहा हुंति ।।१२८।।

बादराः समासतः द्विविधाः-प्रत्येकाः साधारणाश्च, तत्र पत्रपुष्प-मूलफलस्कन्धादीन् प्रति प्रत्येको जीवो येषां ते प्रत्येकजीवाः, साधारणास्तु परस्परानुविद्धानन्तजीवसङ्घातरूपशरीरावस्थानाः, तत्र प्रत्येकशरीरा द्वादशविधानाः, साधारणास्त्वनेकभेदाः, सर्वेऽप्येते समासतः षोढा प्रत्येतव्याः ।। तत्र प्रत्येकतरुद्वादशभेदप्रत्यायनायाह-

रुक्खा गुच्छा गुम्मा लया य वल्ली य पव्वगा चेव ।
तणवलयहरियओसहिजलरुहकुहणा य बोद्धव्वा ।।१२९।।

वृश्च्यन्त इति वृक्षाः, ते द्विविधाः-एकास्थिका बहुबीजकाश्च, तत्रैकास्थिकाः-पिचुमन्दाम्रकोशम्बशालाङ्कोल्लपीलुशल्लक्यादयः, बहुबीजकास्तु-उदुम्बरकपित्थास्तिक-तिन्दुकबिल्वामलकपनस-दाडिममातु०लिङ्गादयः, गुच्छास्तु-वृन्ताकीकर्पासीजपाआढकीतुलसी-कुसुम्भरी-पिप्पलीनील्यादयः, गुल्मानि तु- नवमालिकासेरियककोरण्टकबन्धुजीवकबाणकरवीरसिन्दुवारविचकिलजातियूथिकादयः, लतास्तु-पद्मनागाशोकचम्पकचूतवासन्ती-अतिमुक्त-ककुन्दलताद्याः, वल्लयस्तु-कुष्माण्डीकालिङ्गीत्र-पुषीतुम्बीवालुङ्कीए-लालु-कीपटोल्याादयः, पर्वगाः पुनः-इक्षुवीरणशुण्ठशरवेत्रशतपर्व (त्री)वंशनलवेणु-कादयः, तृणानि तु-श्वेतिकाकुशदर्भपर्व(वर्च)कार्ज्जुनसुरभिकुरुविन्दादीनि, वलयानि च-तालतमालतक्कलीशालसरलाकेतकीकदलीकन्दल्यादीनि, हरितानि-तन्दुलीयकाधूयारुहवस्तु-लबदरकमार्जारपादिकाचिल्ली (त्रिल्लरी) पालक्यादीनि, औषध्यस्तु-शालीव्रहि-गोधूमयवकलममसूरतिल-मुद्गमाष-निष्पावकुलत्थातसीकुसुम्भकोद्रवकङ्ग्वादयः, जलरुहा-उदकावक पनक-शैवलकलम्बुकापाव (वा) ककशेरुकउत्पलपद्मकुमुदनलिन-पुण्डरीकादयः, कुहु(ह)णास्तु-भूमिस्फोटकाभिधानाः आयकायकुहुण-कुण्डुक्कोदेहलिका-शलाकासर्प्पच्छत्रादयः, एषां हि प्रत्येकजीवाशनज्ञ वृक्षाणां मूलस्कन्धकन्दत्वक्शालप्रवालादिष्वसंख्येयाः प्रत्येकं जीवाः, पत्राणि पुष्पाणि चैकजीवानि मन्तव्यानि, साधारणास्त्वनेकविधाः

तद्यथा-लोहीनिहुस्तुभायिकाअश्वकर्णी-सिंहकर्णीशृङ्गबेर (रा) मालुका-मूलककृष्णकन्दसूरणकन्दककोलीक्षीर-काकोलीप्रभृतयः ।। 'सर्वेऽप्येते संक्षेपात् षोढा भवन्ती'त्युक्तं, के पुनस्ते भेदा इत्याह-

अग्गबीया मूलबीया खंधबीया चेव पोरबीया य ।
बीयरुहा समुच्छिम समासओ वणसईजीवा ।।१३०।।

तत्र कोरिण्टकादयोऽग्रबीजाः, कदल्यादयो मूलबीजाः, निहुशल्लक्यरणिकादयः स्कन्धबीजाः, इक्षुवंशवेत्रादयः पर्वबीजाः, बीजरुहाः शालिव्रीह्यादय, सम्मूर्च्छनजाः पद्मिनीशृङ्गाटकपाठशैवलादयः, एवमेते समासात्तरुजीवाः षोढा कथिताः, नान्ये सन्तीति प्रतिपत्तव्यं ।। किं लक्षणाः पुनः प्रत्येकतरवो भवन्तीत्यत आह-

जह सगलसरिसवाणं सिलेसमिस्साण वत्तिया वट्टी ।
पत्तेयसरीराणं तह हुंति सरीरसंघाया ।।१३१।।

यथेति दृष्टान्तोपन्यासार्थः, यथा सकलसर्षपाणां श्लेषयतीति श्लेषः-सर्जरसादिस्तेन मिश्रितानां 'वर्त्तिता' वलिता वर्त्तिः तस्यां च व्रतौ प्रत्येकप्रदेशाः क्रमेण सिद्धार्थकाः स्थिताः, नान्योऽन्यानुवेधेन, चूर्णितास्तु कदाचिदन्योऽन्या-नुवेधभाजोऽपि स्युरित्यतः सकलग्रहणं, यथाऽसौ वर्त्तिस्तथा प्रत्येकतरुशरीरसङ्घातः, यथा च सर्षपास्तथा तदधिष्ठायिनो जीवाः, यथा श्लेषविमिश्रितास्तथा रागद्वेषप्रचितकर्मपुद्गलोदयमिश्रिताः जीवा, पश्चिमार्द्धेन गाथाया उपन्यस्त-दृष्टान्तेन सह साम्यं प्रतिपादितं, तथेति शब्दोपादानादिति ।। अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तान्तरमाह-

जह वा तिलसक्कुलिया बहुएहिं तिलेहिं मेलिया संती ।
पत्तेयसरीराणं तह हुंति सरीरसंघाया ।।१३२।।

यथा वा तिलशष्कुलिका-तिलप्रधाना पिष्टमयपोलिका बहुभिस्तिलैर्निष्पादिता सती भवति, तथा प्रत्येकशरीराणां तरूणां शरीरसङ्घाता भवन्तीति द्रष्टव्यमिति ।। साम्प्रतं प्रत्येकशरीरजीवानामेकानेकाधिष्ठितत्व-प्रतिपिपादयिषयाऽऽह-

नाणाविहसंठाण दीसंती एगजीविया पत्ता ।

खंधावि एगजीवा तालसरलनालिएरीणं ॥१३३॥

नानाविधं-भिन्नं संस्थानं येषां तानि नानाविधसंस्थानानि पत्राणि यानि चैवंभूतानि दृश्यन्ते तान्येकजीवाधिष्ठितान्यवगन्तव्यानि, तथा स्कन्धा अप्येकजीवाधिष्ठितास्तालसरलनालिकेर्यादीनां, नात्रानेकजीवाधिष्ठितत्वं सम्भवतीति, अवशिष्टानां त्वनेकजीवाधिष्ठितत्वं सामर्थ्यात्प्रतिपादितं भवति ॥ साम्प्रतं प्रत्येकतरुजीवराशिपरिमाणाभिधित्सयाऽऽह-

पत्तेया पज्जत्ता सेढीए असंखभागमित्ता ते ।

लोगासंखप्पज्जत्तगाण साहारणाणंता ॥१३४॥

प्रत्येकतरुजीवाः पर्याप्तकाः संवर्त्तितचतुरस्रीकृतलोकश्रेण्यसंख्येय-भागवर्त्याकाशप्रदेशराशितुल्यप्रमाणाः, एते च पुनर्बादरतेजस्कायपर्याप्तक-राशेरसङ्ख्येयगुणाः, ये पुनरपर्याप्तकाः प्रत्येकतरूजन्तवः ते ह्यसङ्ख्येयानां लोकानां यावन्तः प्रदेशास्तावन्त इति, एतेऽप्यपर्याप्तका बादरतेजस्काय-जीवराशेरसङ्ख्येयगुणाः, सूक्ष्मास्तु वनस्पतयः प्रत्येकशरीरिणः पर्याप्तका अपर्याप्तका वा न सन्त्येव, साधारणास्त्वनन्ता इति विशेषानुपादानात् ?, साधारणाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन चतुर्विधा अपि पृथक् पृथगनन्तानां लोकानां यावन्तः प्रदेशास्तावन्त इति, अयं तु विशेषः-साधारणबादरपर्याप्तकेभ्यो बादरा अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः बादराप-र्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माः अपर्याप्तका असंख्येयगुणास्तेभ्योऽपि सूक्ष्माः पर्याप्तकाः असंख्येयगुणा सति ॥ सम्प्रत्येषां तरूणां यो जीवत्वं नेच्छति तं प्रति जीवत्वप्रतिपादनेच्छया निर्युक्तिकृदाह-

एएहिं सरीरेहिं पच्चक्खं ते परूविया जीवा ।

सेसा आणागिज्झा चक्खुणा जे न दीसंति ॥१३५॥

'एतैः' पूर्वप्रतिपादितैस्तरुशरीरैः प्रत्यक्षप्रमाणविषयैः 'प्रत्यक्षं' साक्षात् 'ते' वनस्पतिजीवाः 'प्ररूपिताः' प्रसाधिताः, तथाहि-न ह्येतानि

शरीराणि जीवव्यापारमन्तरेणैवंविधाकारभाञ्जि भवन्ति, तथा च प्रयोगः- जीवशरीराणि वृक्षाः, अक्ष्याद्युपलब्धिभावात् पाण्यादिसङ्घातवत्, तथा कदाचित् सचित्ता अपि वृक्षाः, जीवशरीरत्वात्, पाण्यादिसङ्घातवदेव, तथा मन्दविज्ञानसुखादिमन्तस्तरवः, अव्यक्तचेतनानुगतत्वात्, सुप्तादिपुरुषवत्, तथा चोक्तम्- 'वृक्षाद-योऽक्षाद्युपलब्धिभावात्पाण्यादिसङ्घातवदेव देहाः । तद्वत्सजीवा अपि देहतायाः, सुप्तादिवत् ज्ञानसुखादिमन्तः ।।१।।' 'शेषा' इति सूक्ष्मास्ते च चक्षुषा नोपलभ्यन्त इत्याज्ञया ग्राह्या सति, आज्ञा च भगवद्वचनमवितथमरक्तद्विष्टप्रणीतमिति श्रद्धातव्यमेव ।। साम्प्रतं साधारणलक्षणमभिधित्सुराह-

साहारणमाहारो साहारण आणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एयं ।।१३६।।

समानम्-एकं धारणम्-अङ्गीकरणं शरीराहारादेर्येषां ते साधारणाः तेषां साधारणानाम्-अनन्तकायानां जीवानां 'साधारणं' सामान्यमेकमाहारग्रहणं तथा प्राणापानग्रहणं च साधारणमेव, एतत्साधारणलक्षणम्, एतदुक्तं भवति-एकस्मिन्नाहारितवति सर्वेऽप्याहारितवन्तस्तथैकस्मिन्नुच्छ्वसिते निःश्वसिते वा सर्वेऽप्युच्छ्वसिता निःश्वसिता वेति ।। अमुमेवार्थं स्पष्टयितुमाह-

एगस्स उ जं गहणं बहूण साहारणाण ते चेव ।
जं बहुयाणं गहणं समासओ तंपि एगस्स ।।१३७।।

एको यदुच्छ्वासनिःश्वासयोग्यपुद्गलोपादानं विधत्ते बहूनामपि साधारणजीवानां तदेव भवति, तथा यच्च बहवो ग्रहणमकार्षुरेकस्यापि तदेवेति ।। अथ ये बीजात्प्ररोहन्ति वनस्पतयस्तेषां कथमाविर्भाव इत्यत आह-

जोणिब्भूए बीए जीवो वक्कमइ सो व अन्नो वा ।
जोऽवि य मूले जीवो सो च्चिय पत्ते पढमयाए ।।१३८।।

अत्र भूतशब्दोऽवस्थावचनः, योन्यवस्थे बीजे योनिपरिणाममजहतीत्यर्थः, बीजस्य हि द्विविधावस्थायोन्यवस्था अयोन्यवस्था च, यदा

योन्यवस्थां न जहाति बीजमुज्झितं च जन्तुना तदा योनिभूतमुच्यते, योनिस्तु जन्तोरुत्पत्तिस्थानमविनष्टमिति, तस्मिन् बीजे योनिभूते जीवो 'व्युत्क्रामति' उत्पद्यते, स एव पूर्वको बीजजीवोऽन्यो वाऽऽगत्य तत्रोत्पद्यते, एतदुक्तं भवति-यदा जीवेनायुषः क्षयाद्बीजपरित्यागः कृतो भवति, तस्य च यदा बीजस्य क्षित्त्युदकादि-संयोगस्तदा कदाचित्स एव प्राक्तनो जीवस्तत्रागत्य परिणमते कदाचिदन्य इति, यश्च मूलतया जीवः परिणमते स एव प्रथमपत्रतयाऽपीति, एकजीवकर्तृके मूलपत्रे इतियावत्, प्रथमपत्रकं च याऽसौ बीजस्य समुच्छ्वनावस्था भूजलकालापेक्षा सैवोच्यत इति, नियमप्रदर्शनमेतत्, शेषं तु किशलयादि सकलं न मूलजीवपरिणामाविर्भावितमेवेत्यवगन्तव्यमिति ।। यत उक्तम्- 'सव्वोऽवि किसलओ खलु उग्गममाणो अणन्तओ भणिओ' इत्यादि (सर्वोऽपि किशलयः खलूद्गच्छन्न न्तको भणितः)।। सांप्रतमपरं साधारणलक्षणमभिधित्सुराह-

चक्कागं भज्जमाणस्स गंठी चुण्णघणो भवे ।
पुढविसरिसभेएणं अणंतजीवं वियाणेहि ।।१३९।।

यस्य मूलकन्दत्वक्पत्रपुष्पफलादेर्भज्यमानस्य चक्रकं भवति, चक्राकारः समच्छेदो भङ्गो भवतीतियावत्, यस्य च ग्रन्थिः-पर्व भङ्गस्थानं वा 'चूर्णेन' रजसा 'घनो' व्यापतो भवति, यो वा भिद्यमानो वनस्पतिः पृथिवीसदृशेन भेदेन केदारोपरिशुष्कतरिकावत् पुटभेदेन भिद्यते, तमनन्तकायं विजानीहि ।। तथा लक्षणान्तरमाह-

गूढसिरागं पत्तं सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं ।
जं पुण पणट्ठसंधिय अणंतजीवं वियाणाहि ।।१४०।।

स्पष्टार्था ।। एवं साधारणजीवान् लक्षणतः प्रतिपाद्य सम्प्रति नामग्राहमनन्तात् वनस्पतीन् दर्शयितुमाह-

सेवालकत्थभाणि(छहाणी)यअवए पणए य किंनए य हढे(ट्ठे) ।
एए अणंतजीवा भणिया अण्णे अणेगविहा ।।१४१।।

सेवालकत्थभाणिकाऽवकपनककिण्वहठादयोऽनन्तजीवा गदिता

अनेकप्रकाराश्चान्येऽपीत्थमवगन्तव्या इति ।। सम्प्रति प्रत्येकतरूणा-मेकादिजीवपरिगृहीतशरीरदृश्यत्वं प्रतिपिपादयिषुराह-

एगस्स दुण्ह तिण्ह व संखिज्जाण व तहा असंखाणं ।
पत्तेयसरीराणं दीसंति सरीरसंघाया ।।१४२।।

एकजीवपरिगृहीतशरीरं तालसरलनालिकेर्यादिस्कन्धः, स च चक्षुर्ग्राह्यः, तथा विससृणालकर्णिकाकुणककटाहानामेकजीवपरिगृहीतत्वं चक्षुर्दृश्यत्वं च, द्वित्रिसंख्येयासंख्येयजीवपरिगृहीतत्वमप्येवं दृश्यतया भावनीयमिति ।। किमनन्तानामप्येवं ?, नेत्यत आह-

इक्कस्स दुण्ह तिण्ह व संखिज्जाण व न पासिउं सक्का ।
दीसंति सरीराइं निओयजीवाणऽणंताणं ।।१४३।।

नैकादीनामसंख्येयावसानानामनन्ततरुजीवानां शरीराण्युपलभ्यन्ते, कुतः ?, अभावात्, न ह्येकादिजीवपरिगृहीतान्यनन्तानां शरीराणि सन्ति, अनन्तजीवपिण्डत्वादेव, कथं तर्ह्युपलभ्यास्ते भवन्तीति दर्शयति-दृश्यन्ते शरीराणि बादरनिगोदानामनन्तजीवानां, सूक्ष्मनिगोदानां तु नोपलभ्यन्ते, अनन्तजीवसङ्घातत्वे सत्यप्यतिसूक्ष्मत्वादिति भावः, निगोदास्तु नियमत एवानन्तजीवसङ्घाता भवन्तीति, उक्तं च-'गोला य असंखेज्जा हुंति णिओआ असङ्खया गोले । एक्केक्को य निओए अणंतजीवो मुणेयव्वो' (गोलाश्चासङ्ख्येया भवन्ति निगोदा असङ्ख्येया गोले । एकैकश्च निगोदोऽनन्तजीवो मुणितव्यः ।।१।।) एवं वनस्पतीनां वृक्षादिप्रत्येकादिभेदात्तथा वर्णगन्धरसस्पर्शभेदात् सहस्राग्रशो विधानानि संख्येयानि योनिप्रमुखानि शतसहस्राणि भेदानामवसेयानीति, तथाहि-वनस्पतीनां संवृता योनिः, सा च सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा, तथा शीतोष्णमिश्रभेदाच्च, तथा प्रत्येकतरूणां दश लक्षा योनिभेदानां, साधारणानां च चतुर्दश, कुलकोटीनां, द्वयोरपि पञ्चविंशतिकोटिशतसहस्राणीति ।। उक्तं विधानद्वारम्, इदानीं परिमाणमभिधीयते-तच्च प्रथमं सूक्ष्मानन्तजीवानां दर्शयितुमाह-

पत्थेण व कुडवेण व जह कोइ मिणिज्ज सव्वधन्नाइं ।

एवं मविज्जमाणा हवंति लोया अणंता उ ॥१४४॥

प्रस्थकुडवादिना यथा कश्चित्सर्वधान्यानि प्रमिणुयात्, मित्वा चान्यत्र प्रक्षिपेद्, एवं यदि नाम कश्चित्साधारणजीवराशिं लोककुडवेन मित्वाऽन्यत्र प्रक्षिपेत् तत एवं मीयमाना भवन्ति लोका अनन्ता इति ॥ इदानीं बादरनिगोद-परिमाणाभिधित्सयाऽऽह-

जे बायरपज्जत्ता पयरस्स असंखभागमित्ता ते ।
सेसा असंखलोया तिन्निवि साहारणाणंता ॥१४५॥

ये पर्याप्तकबादरनिगोदास्ते संवर्तितचतुरश्रीकृतसकललोकप्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्तिप्रदेशराशिपरिमाणा भवन्ति, एते पुनः प्रत्येकशरीर-बादरवनस्पतिपर्याप्तकजीवेभ्योऽसङ्ख्येयगुणाः, शेषास्त्रयोऽपि राशयः प्रत्येकमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणाः, के पुनस्त्रय इति ?, उच्यन्ते, अपर्याप्तकबादरनिगोदा अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्तकसूक्ष्मनिगोदाः, एते च क्रमशो बहुतरका दृष्टव्या इति, साधारणजीवास्तेभ्योऽनन्तगुणाः, एतच्च जीवपरिमाणं, प्राक्तनं तु राशिचतुष्टयं निगोदपरिमाणमिति ॥ परिमाणद्वारा-नन्तरमुपभोगद्वारमभिधित्सुराह-

आहारे उवगरणे सयणासण जाण जुग्गकरणे य ।
आवरण पहरणेसु अ सत्थविहाणेसु अ बहुसुं ॥१४६॥

आहारः-फलपत्रविशलमूलकन्दत्वगादिनिर्वर्त्त्यः, उपकरणं व्यजनकटकवलकार्गलादि, शयनं-खट्वाफलकादि, आसनम्-आसन्द-कादि, यानं-शिबिकादि, युग्यं-गन्त्रिकादि, आवरणम्-फलकादि, प्रहरणं-लकुटमुसुण्ढ्यादि, शस्त्रविधानानि च बहुनि तन्निर्वर्त्यानि, शर-दात्रखड्गक्षुरिकादिगण्डोपयोगित्वादिति । तथाऽपरोऽपि परिभोगविधिः, तद्दर्शनायाह-

आउज्ज कट्ठकम्मे गंधंगे वत्थ मल्लजोए य ।
झावणवियावणेसु अ तिल्लविहाणे अ उज्जोए ॥१४७॥

आतोद्यानि-पटहभेरीवंशवीणाझल्लर्यादीनि, काष्ठकर्म्म-प्रतिमा-

स्तम्भद्वारशाखादि, गन्धाङ्गानि-वालकप्रियङ्गुपत्रकदमनकत्वचन्दनोशीर-देवदार्वादीनि, वस्त्राणि-वल्कलकर्पासमयादीनि, माल्ययोगा-नवमालिकाबकुलचम्पकपुन्नागाशोकमालतीविचकिलादय:, ध्मापनं-दाहो भस्मसात्करणमिन्धनै:, वितापनं-शीताभ्यर्द्दितस्य शीतापनयनाय काष्ठप्रज्वालनात्, तैलविधानं-तिलातसीसर्षपेङ्गुदी-ज्योतिष्मतीकरञ्जादिभि:, उद्योतो-वर्त्तितृणचूडाकाष्ठादिभिरिति ।। एवमेतान्युपभोगस्थानानि प्रतिपाद्य तदुपसञ्जिहीर्षुराह-

एएहिं कारणेहिं हिंसंति वणस्सई बहू जीवे ।
सायं गवेसमाणा परस्स दुक्खं उदीरंति ।।१४८।।

'एतै:' गाथाद्वयोपात्तै: 'कारणै:' प्रयोजनै: 'हिंसन्ति' व्यापादयन्ति प्रत्येकसाधारणवनस्पतिजीवान् बहून् वनस्पतिसमारम्भिण: पुरुषा:, किंभातास्त इति दर्शयति-'सातं' सुखं तदन्वेषिण: 'परस्य' वनस्पत्याद्येकेन्द्रियादे: 'दु:खं' बाधामुत्पादयन्ति ।। साम्प्रतं शस्त्रमुच्यते-तच्च द्विधा-द्रव्यभावभेदात्, द्रव्यशस्त्रमपि समासविभागभेदात् द्विधैव, तत्र समासद्रव्यशस्त्राभिधित्सयाऽऽह-

कप्पणिकुहाणि(डि)असियगदत्तियकुद्दालवासिपरसू अ ।
सत्थ वणस्सईए हत्था पाया मुहं अग्गी ।।१४९।।

कल्प्यते-छिद्यते यया सा कल्पनी-शस्त्रविशेष:, कुठारी प्रसिद्धैव, असियगं-दात्रं, दात्रिका-प्रसिद्धा एव, कुद्दालकवासिपरशवश्च, एते वनस्पते: शस्त्रं, तथा हस्तपादमुखाग्नयश्च इत्येतेत्सामान्यशस्त्रमिति ।। विभागशस्त्राभिधित्सयाऽऽह-

किंचि सकायसत्थं किंचि परकाय तदुभयं किंचि ।
एयं तु दव्वसत्थं भावे य असंजमो सत्थं ।।१५०।।

किञ्चित् स्वकायशस्त्रं-लकुटादि किञ्चिच्च परकायशस्त्रं-पाषाणाग्न्यादि तथोभयशस्त्रं-दात्रदात्रिकाकुठारादि, एतद् द्रव्यशस्त्रं भावशस्त्रं पुनरसंयम: दुष्पणिहितमनोवाक्कायलक्षण इति ।।

सकलनिर्युक्त्य-र्थपरिसमाप्ति-प्रचिकटयिषयाऽऽह-

सेसाइं दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।

एवं वणस्सईए निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥१५१॥

उक्तव्यतिरिक्तशेषाणि तान्येव द्वाराणि यानि पृथिव्यामभिहितानि ततस्तद्द्वाराभिधानाद्वनस्पतौ निर्युक्तिः 'कीर्त्तिता' व्यावर्णितेति ॥ साम्प्रतं सूत्रानुगमे अस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्-

तं णो करिस्सामि समुट्ठाए, मत्ता मइमं अभयं विदित्ता, तं जे णो करए, एसोवरए, एत्थोवरए, एस अणगारेत्ति पवुच्चई ॥सू०३९॥

अस्य चानन्तरपरम्परादिसूत्रैः सम्बन्धः प्राग्वद्वाच्यः उक्तं प्राक् 'सातान्वेषिणो हि वनस्पतिजन्तूनां दुःखमुदीरयन्ति, ततश्च तन्मूलमेव दुःखगहने संसारसागरे भ्राम्यन्ति सत्त्वाः' इत्येवं विदितकटुकविपाकः समस्तवनस्पतिसत्त्वविषयविमर्दनिवृत्तिमात्यन्तिकीमात्मनि दर्शयन्नाह- 'तत्' वनस्पतीनां दुःख-महं दृष्टप्रत्यपायो न करिष्ये, यदिवा तद्दुःखोत्पत्तिनिमित्तभूतं वनस्पतावारम्भं-छेदनभेदनादिरूपं नो करिष्ये मनोवाक्कायैः, तथाऽपरैर्न कारयिष्ये, तथा कुर्व्वतश्चान्यान्नानुमंस्ये, किं कृत्वेति दर्शयति-सर्वज्ञोपदिष्टमार्गानुसृत्या सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थाय समुत्थाय, प्रव्रज्यां प्रतिपद्येत्यर्थः, तदेवं वर्जितसकलसावद्यारम्भकलापः संस्तद्वनस्पतिदुःखं तदारम्भं वा नो करिष्यामीति, अनेन च संयमक्रिया दर्शिता, न च क्रियात एव मोक्षावाप्तिः, किं तर्हि ? ज्ञानक्रियाभ्यां, तदुक्तम्- 'नाणं किरियारहियं किरियामेत्तं च दोऽवि एगन्ता । न समत्था दाउं जे जम्ममरणदुक्खदाहाइं ॥१॥' (ज्ञानं क्रियारहितं क्रियामात्रं च द्वे अप्येकान्तान् । न समर्थे दातुं यानि जन्ममरणदुःखदाहकानि ॥१॥) यत एवमतो विशिष्टमोक्ष-कारणभूतज्ञानप्रतिपिपादयिषयाऽऽह- 'मत्ता मइमं' मत्त्वा-ज्ञात्वा अवबुध्य यथावत् जीवान्, मतिरस्यास्तीति मतिमान्, मतिमानेवोपदेशार्हो भवतीत्यतस्तद्द्वारेणैव शिष्यामन्त्रणं हे मतिमन् ! प्रव्रज्यां प्रतिपद्य जीवादिपदार्थांश्च ज्ञात्वा मोक्षमवाप्नोतीति,

सम्यग्ज्ञानपूर्विका हि क्रिया फलवतीति दर्शितं भवति । पुनरत्रैवाह-'अभयं विदित्ता' अविद्यमानं भयमस्मिन्सत्त्वानाभित्यभय:-संयम:, स च सप्तदशविधानस्तं चाभयं-सर्वभूतपरिपालनात्मकं संसारसागरान्निर्वाहकं विदित्वा वनस्पत्यारम्भान्निवृत्तिविधेयेति । एतदेव दर्शयितुमाह-'तं जे नो करए' इत्यादि, 'तं' वनस्पत्यारम्भं 'यो' विदिततदारम्भकटुकविपाक: नो कुर्यात्, तस्य प्रतिविशिष्टेष्टफलावाप्तिर्नान्यस्यान्धमूढ्या प्रवर्त्तमानस्य, अभिलषितविप्रकृष्टस्थानप्राप्तिप्रवृत्तान्धक्रियाव्याघातवदिति मन्तव्यं, ज्ञानमपि क्रियाहीनं न मोक्षाय, गृहान्तर्दह्यमाननिनङ्क्षुपङ्गुचक्षुर्ज्ञानवदिति, एवं च ज्ञात्वाऽभ्युपेत्य च तत्परिहार: कर्त्तव्य इति दर्शितं भवति । एवं य: सम्यग्ज्ञानपूर्विकां निवृत्तिं करोति स एव समस्तारम्भनिवृत्त इति दर्शयति-'एसोवरए'त्ति एष एव सर्वस्मादारम्भाद्वनस्पतिविषयादुपरतो यो यथावत् ज्ञात्वाऽऽरम्भं न करोतीति, स पुनरेवंविधनिवृत्तिभाक्किं शाक्यादिष्वपि सम्भवत्युतेहैव प्रवचन इति दर्शयति-'एत्थोवरए'त्ति एतस्मिन्नेव जैनेन्द्रे प्रवचने परमा-र्थत उपरतो नान्यत्र, यथा-प्रतिज्ञात-निरवद्यानुष्ठायित्वादुपरतव्यपदेशभाग् भवति न शेषा: शाक्यादय:, तद्विपरीतत्वाद्, एष एव च सम्पूर्णानगारव्यपदेशमश्नुते इति दर्शयति-'एस अणगारेत्ति पवुच्चई' 'एष:' अतिक्रान्तसूत्रार्थव्यवस्थितोऽविद्यमाना-गारोऽनगार: प्रकर्षेण उच्यते प्रोच्यते इति, किंकृत: प्रकर्ष: ?, अनगारव्यप-देशकारणभूतगुणकलापसम्बन्धकृत: प्रकर्ष:, इतिशब्दोऽनगारव्यपदेश-कारणपरिसमाप्तिद्योती, एतावदनगारलक्षणं नान्यदिति, ये पुन: प्रोज्झित-पारमार्थिकानगारगुणा: शब्दादीन्विषयानङ्गीकृत्य प्रवर्त्तन्ते ते तु नापेक्षन्ते वनस्पतीन् जीवान्, यतो भूयांस: शब्दादयो गुणा वनस्पतिभ्य एव निष्पद्यन्ते, शब्दादिगुणेष्वेव वर्त्तमाना रागद्वेषविषमविषविघूर्णमानलोललोचना नरकादिचतुर्विधगत्यन्त:पातिनो बोधव्या:, तदन्त:पातिन एव च शब्दादि-विषयाभिष्वङ्गिणो भवन्तीति ।। अस्यार्थस्य प्रसिद्धये गतप्रत्यागतलक्षण-मितरेतरावधारण-फलं सूत्रमाह-

जे गुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे ।।सू० ४०।।

यो 'गुण:' शब्दादिक: स आवर्त्त:, आवर्त्तन्ते-परिभ्रमन्ति प्राणिनो यत्र स आवर्त्त:-संसार:, इह च कारणमेव कार्यत्वेन व्यपदिश्यते यथा नड्वलोदकं पादरोग:, एवं य एते शब्दादयो गुणा: स आवर्त्त:, तत्कारणत्वात्, अथवैकवचनोपादानात्पुरुषोऽभिसम्बध्यते, य: शब्दादिगुणेषु वर्त्तते स आवर्त्ते वर्त्तते, यश्चावर्त्ते वर्त्तते स गुणे वर्तत इति, अत्र कश्चिच्चोद्यचञ्चुराह-यो गुणेषु वर्त्तते स आवर्त्ते वर्त्तत इति साधु, य: पुनरावर्त्ते वर्त्तते नासौ नियमत एव गुणेषु वर्त्तते, यस्मात्साधवो वर्त्तन्ते आवर्त्ते न गुणेषु तदेतत्कथमिति, अत्रोच्यते, सत्यम्, आवर्त्ते यतयो वर्त्तन्ते न गुणेषु, किन्तु रागद्वेषपूर्वकं गुणेषु वर्तनमिहाधिक्रियते, तच्च साधूनां न सम्भवति, तदभावात्, आवर्त्तोऽपि संसरणरूपो दु:खात्मको न सम्भवति, सामान्यतस्तु संसारान्त:पातित्वं सामान्यशब्दादिगुणोपलब्धिश्च सम्भवत्येवातो नोपलब्धि: प्रतिषिध्यते, रागपरिणामो द्वेषपरिणामो वा यस्तत्र स प्रतिषिध्यते, तथा चोक्तम्-'कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं पेम्मं नाभिनिवेसए' (कर्णसौख्येषु शब्देषु प्रेम नाभिनिवेशयेत् ।) इत्यादि, तथा चोक्तम्-'न शक्यं रूपम-द्रष्टुं, चक्षुर्गोचरमागतम् । रागद्वेषौ तु यौ तत्र, तौ बुध: परिवर्जयेत् ।।१।।' इति, कथं पुनर्गुणभूयस्त्वं वनस्पतिभ्य इति प्रदर्श्यते-वेणुवीणापटहमुकुन्दादीनामातोद्यविशेषाणां वनस्पतेरुत्पत्ति:, ततश्च मनोहरा: शब्दा निष्पद्यन्ते, प्राधान्यमत्र वनस्पतेर्विवक्षितं, अन्यथा तु तन्त्रीचर्मपाण्यादिसंयोगाच्छब्दनिष्पत्तिरिति, रूपं पुन: काष्ठकर्म्मस्त्रीप्रतिमादिषु गृहतोरणवेदिकास्तम्भादिषु च चक्षूरमणीयं, गन्धा अपि हि कर्पूरपाटलालवलीलवङ्गकेतकीसरस-चन्दनागरुकक्कोलकेलाजाति फल-पत्रिकाकेसरमांसीत्वक्पत्रादीनां सुरभयो गन्धेन्द्रियाह्लादकारिण: प्रादुर्भवन्ति, रसास्तु बिसमृणाल-मूलकन्दपुष्पफलपत्रकण्टकमञ्जरीत्वगङ्कुरकिसलयारविन्दकेसरादीनां जिह्वेन्द्रियप्रह्लादिनो निष्पद्यन्ते अतिबहव इति, तथा स्पर्शा: पद्मिनीपत्रकमलदलमृणालवल्कल-दुकूलशाटकोप-

धानतूलिकप्रच्छादनपटादीनां स्पर्शनेन्द्रियसुखाः प्रादुष्यन्ति, एवमेतेषु वनस्पतिनिष्पन्नेषु शब्दादिगुणेषु यो वर्त्तते स आवर्त्ते वर्त्तते, यश्च आवर्त्तवर्त्ती स रागद्वेषात्मकत्वात् गुणेषु वर्त्तत इति, स चावर्त्तो नामादि-भेदाच्चतुर्द्धा, नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यावर्त्तः स्वामित्वकरणाधिकरणेषु यथास-म्भवं योज्यः, स्वामित्वे नद्यादीनां क्वचित्प्रविभागे जलपरिभ्रमणं द्रव्यस्यावर्त्तः, द्रव्याणां वा हंसकारण्डवचक्रवाकादीनां व्योम्नि क्रीडतामावर्त्तनादावर्त्तः, करणे तु तेनैव जलद्रव्येण भ्रमता यदन्यदावर्त्तते तृणकलिञ्चादि स द्रव्येणावर्त्तः, तथा त्रपुसीसकलोहरजत-सुवर्णैरावर्त्यमानैर्यदन्यत्तदन्तः पात्यावर्त्यते स द्रव्यैरावर्त्तत इति, अधिकरणविवक्षायामेकस्मिन् जलद्रव्ये आवर्त्तस्तथा रजतसुवर्णरीति-कात्रपुसीसकेष्वेकस्थीकृतेषु बहुषु द्रव्येष्वा-वर्त्तः, भावावर्त्तो नामान्योऽन्यभावसङ्क्रान्तिः, औदयिकभावोदयाद्वा नरकादिगतिचतुष्टयेऽसुमानावर्त्तते, इह च भावावर्त्तेनाधिकारो न शेषैरिति ।। अथ य एते गुणाः संसारावर्त्तकारणभूताः शब्दादयो वनस्पतेराभिनिवृत्तास्ते किं नियतदिग्देशभाजः उत सर्व्वदिक्षु इत्यत आह-

उड्ढं अहं तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासति, सुणमाणे सद्दाइं सुणेति, उड्ढं अहं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु आवि ।।सू० ४१ ।।

प्रज्ञापकदिगङ्गीकरणाद्द्ध्र्वदिग्व्यवस्थितं रूपगुणं पश्यति प्रासाद-तलहर्म्यादिषु, 'अध'मित्यवाङ् अधस्तात् गिरिशिखरप्रासादाधिरू-ढोऽधोव्यवस्थितं रूपगुणं पश्यति, अधःशब्दार्थे अवाङित्ययं वर्त्तते, गृहभित्त्यादिव्यवस्थितं रूपगुणं तिर्यक् पश्यति, तिर्यक्शब्देन चात्र दिशोऽनुदिशश्च परिगृह्यन्ते, ताश्चेमाः- 'प्राचीन'मिति पूर्वा दिग्, एतच्चोप-लक्षणम्, अन्या अप्येतदाद्यास्तिर्यग्दिशो द्रष्टव्या इति, एतासु दिक्षु पश्यन् चक्षुर्ज्ञानपरिणतो रूपादिद्रव्याणि चक्षुर्ग्राह्यतया परिणतानि पश्यति-उपलभत इत्यर्थः, तथा तासु च श्रृण्वन् श्रृणोति शब्दानु-पयुक्तः श्रोत्रेण नान्यथेति ।। अत्रोपलब्धिमात्रं प्रतिपादितं, न चोपलब्धिमात्रात्संसार-प्रपातः,

किन्तु यदि मूर्च्छा रूपादिषु करोति, ततोऽस्य बन्ध इति दर्शयितुमाह- 'उड्ढ'मित्यादि पुनरुद्ध्वादिर्मूर्छासम्बन्धनार्थमुपादानं, मूर्छन् रूपेषु मूर्छति, रागपरिणामं यान् रज्यते रूपादिष्वित्यर्थः, एवं शब्देष्वपि मूर्छति, अपिशब्दः सम्भावनायां समुच्चये वा, रूपशब्दविषयग्रहणाच्च शेषा अपि गन्धरसस्पर्शा गृहीता भवन्ति, 'एकग्रहणे तज्जातीयानां ग्रहणाद्, आद्यन्तग्रहणाद्वा तन्मध्यग्रहणमवसेयमिति ।।' एवं विषयलोकमाख्याय विवक्षितमाह-

एस लोए वियाहिए एत्थ अगुत्ते अणाणाए ।।सू० ४२ ।।

'एष' इति रूपरसगन्धस्पर्शशब्दविषयाख्यो लोको व्याख्यातः, लोक्यते परिच्छिद्यते इतिकृत्वा, एतस्मिंश्च प्रस्तुते शब्दादिगुणलोकेऽगुप्तो यो मनोवाक्कायैः मनसा द्वेष्टि रज्यते वा वाचा प्रार्थनं शब्दादीनां करोति कायेन शब्दादिविषयदेशमभिसर्पति, एवं यो ह्यगुप्तो भवति सोऽनाज्ञायां वर्त्तते, न भगवत्प्रणीतप्रवचनानुसारीतियावदिति ।। एवं गुणश्च यत्कुर्यात्तदाह-

पुणो पुणो गुणासाए, वंकसमायारे ।। सू० ४३ ।।

ततश्चासावसकृच्छब्दादिगुणलुब्धो न शक्नोत्यात्मानं शब्दादिगृद्धे-र्निवर्त्तयितुम्, अनिवर्त्तमानश्च पुनः पुनर्गुणास्वादो भवति, क्रियासातत्येन शब्दादिगुणानास्वादयतीत्यर्थः, तथा च यादृशो भवति तद्दर्शयति-वक्रः- असंयमः कुटिलो नरकादिगत्याभिमुख्यप्रवणत्वात्, समाचरणं समाचारः- अनुष्ठानं, वक्रः समाचारो यस्यासौ वक्रसमाचारः, असंयमानुष्ठायीत्यर्थः, अवश्यमेव शब्दादिविषयाभिलाषी भूतोपमर्द्दकारीत्यतो वक्रसमाचारः, प्राक् शब्दादिविषयलवसमा-स्वादनाद्गृद्धः पुनरात्मानसमाचारयितुमस-मर्थत्वादपथ्याम्रफलभोजिराजवद्विनाशमाशु संश्रयत इति ।। एवं चासौ नितरां जितः शब्दादिविषयसमास्वादनात् 'खंतपुत्तोव्व' इदमाचरति-

पमत्तेऽगारमावसे ।। सू० ४४ ।।

प्रमत्तो विषयविषमूर्छितः 'अगारं' गृहमावसति, योऽपि द्रव्यलिङ्ग-समन्वितः शब्दादिविषयप्रमादवान् असावपि विरतिरूपभावलिङ्गरहित-त्वात् गृहस्थ एवेति ।। अन्यतीर्थिकाः पुनः सर्वदा सर्वथाऽन्यथा-

वादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयितुमाह-

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मोत्ति एगे पवदमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्मसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति १। तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जातीमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वणस्सइसत्थं समारंभइ अण्णेहिं वा वणस्सइसत्थं समारंभावेइ अण्णे वा वणस्सइसत्थं समारभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहीए २। से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति-एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्डिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्मसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति ३।। सू० ४५।।

प्राग्वत् ज्ञेयं, नवरं वनस्पत्यालापो विधेय इति ।। साम्प्रतं च वनस्पतिजीवास्तित्वे लिङ्गमाह-

से बेमि इमंपि जाइधम्मयं एयंपि जाइधम्मयं, इमंपि वुड्ढिध-म्मयं एयंपि वुड्ढिधम्मयं इमंपि चित्तमंतयं एयंपि चित्तमंतयं, इमंपि छिण्णं मिलाइ एयंपि छिण्णं मिलाइ, इमंपि आहारगं एयंपि आहारगं, इमंपि अणिच्चयं एयंपि अणिच्चयं, इमंपि असासयं एयंपि असासयं, (इमंपि अधुवं एयंपि अधुवं), इमंपि चओवचइयं, एयंपि चओवचइयं, इमंपि विपरिणामधम्मयं (नामियं) एयंपि विपरिणामधम्मयं ।। सू० ४६ ।।

सोऽहमुपलब्धतत्त्वो ब्रवीमि, अथवा वनस्पतिचैतन्यं प्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्यमानस्वरूपं यत्तदहं ब्रवीमि, यथा-प्रतिज्ञातमर्थं दर्शयति-'इमंपि जाइधम्मयं'ति इहोपदेशदानाय सूत्रारम्भस्तद्योग्यश्च पुरुषो भवत्यस्तस्य सामर्थ्येन सन्निहितत्वात्तच्छरीरं प्रत्यक्षासन्नवाचिनेदमा परामृशति,

इदमपिमनुष्य-शरीरं, जननं-जातिरुत्पत्तिस्तद्धर्मकम्, एतदपि वनस्पतिशरीरं तद्धर्म्मकं-तत्स्वभावमेव, इतिपूर्वकोऽपिशब्दः सर्वत्र यथाशब्दार्थे द्विती-यस्तु समुच्चये व्याख्येयः, ततश्चायमर्थः-यथा मनुष्यशरीरं बालकुमा-रयुववृद्धतापरिणामविशेषवत् चेतनावत्सदाधिष्ठितं प्रस्पष्टचेतनाकमुप-लभ्यते, तथेदमपि वनस्पतिशरीर, यतो जातः केतकतरुर्बालको युवा वृद्धश्च संवृत्त इति, अतस्तुल्यत्वादेतदपि जातिधर्मकं, न च कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येन सत्यपि जातिधर्मत्वे मनुष्यादिशरीरमेव सचेतनं न वनस्पतिशरीरमिति, ननु च जातिधर्मत्वं केशनखदन्तादिष्वप्यस्ति, अव्यभिचारि च लक्षणं भवत्यस्ति च व्यभिचारः, तस्मादयुक्तं कल्पयितुं जातिधर्मत्वं जीवलि-ङ्गमिति, उच्यते, सत्यमस्ति जननमात्रं, किन्तु मनुष्यशरीरप्रसिद्धबाल-कुमारकयुववृद्धाद्यवस्थानामसम्भवः केशादिष्वस्ति स्फुटः, तस्मादसम-ञ्जसमेतद, अपि च-केशनखं चेतनावत्पदार्थाधिष्ठितशरीरस्थं जातमित्यु-च्यते, वर्द्धत इति वा, न पुनस्त्वयैवं तरवोऽपि चेतनावत्पदार्थाधारस्था इष्यन्ते, त्वन्मते भुवोऽचेतनत्वात्तस्मादयुक्तमिति । अथवा जातिधर्म-त्वादीनि समुदितानि सूत्रोक्तान्येक एव हेतुः, न पृथक् हेतुता, न च समुदायहेतुः केशादिष्वस्ति तस्माददोष इति । तथा यथेदं मनुष्यशरीरक-मनवरतं बालकुमाराद्यवस्थाविशेषैर्वर्द्धते, तथैतदपि वनस्पतिशरीर-मङ्कुरकिशलयशाखाप्रशाखादिभिर्विशेषैर्वर्द्धत इति, तथा यथेदं मनुष्यशरीरं चित्तवदेवं वनस्पतिशरीरमपि चित्तवत्, कथम् ?, चेतयति येन तच्चितं-ज्ञानं, ततश्च यथा मनुष्यशरीरं ज्ञानेनानुगतमेवं वनस्पतिशरीरमपि, यतो धात्रीप्रपुन्नाटादीनां स्वापविबोधसद्भावः तथाऽधोनिखातद्रविणराशेः स्वप्ररोहेणावेष्टनं प्रावृड्जलधरनिनादशिशिरवायुसंस्पर्शादङ्कुरोद्भेदः, तथा मदमदन-सङ्गस्खलद्गतिविधूर्णमानलोललोचनविलासिनीसन्नूपुरसुकुमार चरणताडनादशोकतरोः पल्लवकुसुमोद्गमः, तथा सुरभिसुरागण्डूषसेकाद्-बकुलस्य स्पृष्टप्ररोहिकादीनां च हस्तादिसंस्पर्शात्सङ्कोचादिका परिस्फुटा

क्रियोपलब्धि:, न चैतदभिहिततरुसम्बन्धि क्रियाजालं ज्ञानमन्तरेण घटते, तस्मात्सिद्धं चित्तवत्त्वं वनस्पते: इति । तथा यथेदं मनुष्यशरीरं छिन्नं म्लायति तथेदमपि छिन्नं म्लायति, मनुष्यशरीरं हि हस्तादि छिन्नं म्लायति-शुष्यति, तथा तरुशरीरमपि पल्लवफल-कुसुमादि छिन्नं शोषमुपगच्छत् दृष्टं, न चाचेतनानामयं धर्म्म इति । तथा यथेदं मनुष्यशरीरं स्तनक्षीरव्य-ञ्जनौदनाद्याहाराभ्यवहारादाहारकं तथैतदपि वनस्पतिशरीरं भूजलाद्या-हाराभ्यवहारकं, न चैतदाहारकत्वमचेतनानां दृष्टम्, अतस्तद्भा-वात्सचेतनत्वमिति । तथा यथेदं मनुष्यशरीरमनित्यकं-न सर्वदाऽवस्थायि तथैतदपि वनस्पतिशरीरमनित्यं नियतायुष्कत्वात्, तथाहि-अस्य दश वर्षसहस्राणि उत्कृष्टमायु: । तथा यथेदं मनुष्यशरीरमशाश्वतंप्रतिक्षण-मावीचीमरणेन मरणात् तथैतदपि वनस्पतिशरीरमिति । तथा यथेदमिष्टानि-ष्टाहारादिप्राप्त्या 'चयापचयिकं' वृद्धिहान्यात्मकं तथैतदपि इति । तथा यथेदं मनुष्यशरीरं विविधपरिणाम:-तत्तद्रोगसम्पर्कात् पाण्डुत्वोदरवृद्धिशो-फकृशत्वाङ्गुलिनासिकाप्रवेशादिरूपो बालादिरूपो वा, तथा रसायन-स्नेहाद्युपयोगाद्विशिष्टकान्तिबलोपचयादिरूपो विपरिणाम: तद्धर्म्मकं-तत्स्वभावक तथैतदपि वनस्पतिशरीरं तथा विधरोगोद्भवात्पुष्पपत्रफल-त्वगाद्यन्यथाभवनात् तथा विशिष्टदौहृदप्रदानेन पुष्पफलाद्युपचयाद्विपरि-णामधर्मकम् । एवमनन्तरोक्तधर्मकलापसद्भावादसंशयं गृहाणैतत्-सचेतनास्तरव इति ।। एवं वनस्पतेश्चैतन्यं प्रदर्श्य तदारम्भे बन्धं तत्परि-हाररूपविरत्यासेवनेन च मुनित्वं प्रतिपादयन्नुपसञ्जिहीर्षु राह-

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति, एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वणस्सइसत्थं समारंभेज्जा णेवण्णेहिं वणस्सइसत्थं समारंभावेज्जा णेवऽण्णे वणस्सइसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वणस्सतिसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि ।। सू० ४७ ।। पञ्चम उद्देशक: ।।१-५।।

'एतस्मिन्' वनस्पतौ शस्त्रं द्रव्यभावाख्यमारभमाणस्येत्येते आरम्भा अपरिज्ञाता-अप्रत्याख्याता भवन्ति, एतस्मिंश्च वनस्पतौ शस्त्रसमारभमाणस्येत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः-प्रत्याख्याता भवन्तीति पूर्ववच्चर्चः, यावत् स एव मुनिः परिज्ञातकर्मेति ब्रवीमि पूर्व्ववदिति । शस्त्रपरिज्ञाध्ययने पञ्चमोद्देशकटीका परिसमाप्तेति ॥१-५ ॥

॥ अथ प्रथमाध्ययने षष्ठस्त्रसकायोद्देशकः ॥

उक्तः पञ्चमोद्देशकः, साम्प्रतं षष्ठः समारभ्यते-अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके वनस्पतिकायः प्रतिपादितः, तदनन्तरं च त्रसकायस्यागमे परिपठितत्वात् तत्स्वरूपाधिगमायायमुद्देशकः समारभ्यते, तस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि, यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे त्रसकायोद्देशकः, तत्र त्रसकायस्य पूर्व्वसिद्धद्वारक्रमातिदेशाय तद्विभिन्नलक्षणद्वाराभिधानाय च निर्युक्तिकृदाह-

तसकाए दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुवभोगसत्थे य ॥१५२॥

त्रस्यन्तीति त्रसास्तेषां कायस्त्रसकायस्तस्मिंस्तान्येव द्वाराणि भवन्ति यानि पृथिव्यां प्रतिपादितानि, नानात्वं तु विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रद्वारेषु, चशब्दाल्लक्षणे च प्रतिपत्तव्यमिति ॥ तत्र विधानद्वारमाह-

दुविहा खलु तसजीवा लद्धितसा चेव गइतसा चेव ।
लद्धीय तेउवाऊ तेणऽहिगारो इहं नत्थि ॥१५३॥

'द्विविधा' द्विभेदाः, खलुरवधारणे, त्रसत्वं प्रति द्विभेदत्वमेव, त्रसनात्-स्पन्दनात् त्रसाः, जीवनात्प्राणधारणाज्जीवाः, त्रसा एव जीवास्त्रसजीवाः, लब्धित्रसा गतित्रसाश्च, लब्ध्या तेजोवायू त्रसौ, लब्धिस्तच्छक्तिमात्रं, लब्धित्रसाम्यामिहाधिकारो नास्ति, तेजसोऽभिहितत्वाद्वायोश्चाभिधास्यमानत्वाद्, अतः सामर्थ्याद्गतित्रसा एवाधिक्रियन्ते ॥ के पुनस्ते कियद्भेदा वेत्यत आह-

नेरइयतिरियमणुया सुरा य गइओ चउव्विहा चेव ।
पज्जत्ताऽपज्जत्ता नेरइयाई अ नायव्वा ॥१५४॥

नारका-रत्नप्रभादिमहातमःपृथ्वीपर्यन्तनरकावासिनः सप्तभेदाः, तिर्यञ्चोऽपि द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियाः, मनुष्याः सम्मूर्छनजाः गर्भव्युत्क्रान्ताश्च, सुरा भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकाः, एते गतित्रसाश्चतुर्विधाः, नामकर्मोदयाभिनिर्वृत्तगतिलाभाद्गतित्रसत्वम्, एते च नारकादयः पर्याप्तापर्याप्तभेदेन द्विविधा ज्ञातव्याः, तत्र पर्याप्तिः पूर्वोक्तैव षोढा, तया यथासम्भवं निष्पन्नाः पर्याप्ताः, तद्विपरीतास्त्वपर्याप्तका अन्तर्मुहुर्त्तकालमिति ॥ इदानीमुत्तरभेदानाह-

तिविहा तिविहा जोणी अंडापोअअजराउआ चेव ।
बेइंदिय तेइन्दिय चउरो पंचिंदिया चेव ॥१५५॥ दारं ॥

अत्र हि शीतोष्णमिश्रभेदात्तथा सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्तथा संवृत-विवृततदुभयभेदात्तथा स्त्रीपुंनपुंसकभेदाच्चेत्यादीनि बहूनि योनीनां त्रिकाणि सम्भवन्ति, तेषां सर्वेषां सङ्ग्रहार्थं त्रिविधा त्रिविधेति वीप्सानिर्देशः, तत्र नारकाणामाद्यासु तिसृषु भूमिषु शीतैव योनिः चतुर्थ्यामुपरितननरकेषु शीता अधस्तननरकेषूष्णा पञ्चमीषष्ठीसप्तमीषूष्णैव नेतरे (शीता शीतोष्णेति । तत्र नारकाणामाद्यासु तिसृषु भूमिषूष्णैव योनिः चतुर्थ्यामुपरित-ननरकेषूष्णाऽधस्तननरकेषु शीता पञ्चमीषष्ठीसप्तमीषु शीतैव नेतरे इति पा., मतान्तराभिप्रायकश्चायं पाठः, अस्ति सङ्ग्रहणीवृत्तावेवं मतद्वयमपि।) गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यङ्मनुष्याणामशेषदेवानां च शीतोष्णा योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसंमूर्छनजतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिविधाऽपि योनिः शीता उष्णा शीतोष्णा चेति, तथा नारकदेवानामचित्ता नेतरे, द्वीन्द्रियादिसम्मूर्छन-जपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिविधाऽपि योनिः सचित्ताचित्ता मिश्रा च, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यङ्मनुष्याणां मिश्रा योनिर्नेतरे, तथा देवनारकाणां संवृता योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुरिन्द्रियसम्मूर्छनजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां विवृता

योनिर्नेतरे, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यग्मनुष्याणां संवृतविवृता योनिर्नेतरे, तथा नारका नपुंसकयोनय एव, तिर्यञ्चस्त्रिविधाः-स्त्रीपुंनपुंसकयोनयोऽपि, मनुष्या अप्येवं त्रैविध्ययोनिभाजः, देवाः स्त्रीपुंयोनय एव, तथाऽपरं मनुष्ययोनेस्त्रैविध्यं, तद्यथा-कूर्मोन्नता, तस्यां चार्हत्चक्रवर्त्त्यादिसत्पुरुषाणामुत्पत्तिः, तथा शङ्खावर्त्ता, सा च स्त्रीरत्नस्यैव, तस्या च प्राणिनां सम्भवोऽस्ति न निष्पत्तिः, तथा वंशीपत्रा, सा च प्राकृतजनस्येति, तथाऽपरं त्रैविध्यं निर्युक्तिकृद्दर्शयति-तद्यथा अण्डजाः पोतजाः जरायुजाश्चेति, तत्राण्डजाः पक्ष्यादयः, पोतजाः वल्गुलीगजकलभकादयः, जरायुजा गोमहिषीमनुष्यादयः, तथा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदाच्च भिद्यन्ते, एवमेते त्रसास्त्रिविधयोन्यादिभेदेन प्ररूपिताः एतद्योनिसङ्ग्राहिण्यौ च गाथे-पुढविदगअगणिमारुयपत्तेयनिओयजीवजोणीणं । सत्तग सत्तग सत्तग सत्तग दस चोद्दस य लक्खा ।।१।। विगलिंदिएसु दो दो चउरो चउरो य नारयसुरेसु । तिरियाण होन्ति चउरो चोद्दस मणुआण लक्खाइं ।।२।। (पृथ्व्युदकाग्निमारुतप्रत्येकनिगोदजीवयोनीनाम् । सप्त सप्त सप्त सप्त दश चतुर्दश च लक्षाः ।।१।। विकलेन्द्रियेषु द्वे द्वे चतस्रश्चतस्रश्च नारकसुरयोः । तिरश्चां भवन्ति चतस्रश्चतुर्दश मनुष्याणां लक्षाः ।।२।।) एवमेते चतुरशीतियोनिलक्षा भवन्ति, तथा कुलप-रिमाणं 'कुलकोडिसय-सहस्सा बत्तीसट्ठट्ठनव य पणवीसा । एगिंदियबितिइन्दिय (सत्तट्ठ य नव य अट्ठवीसं च । बेइन्दियतेइंदिय) चउरिंदिहरियकायाणं ।।१।। अद्धत्तेरस बारस दस दस नव चेव कोडिलक्खाइं । जलयरपक्खिचउप्पयउरभुयपरि-सप्पजीवाणं ।।२।। पणवीसं छव्वीसं च सयसहस्साइं नारयसुराणं । बारस य सयसहस्सा कुलकोडीणं मणुस्साणं ।।३।। एगा कोडाकोडी सत्ताणउतिं च सयसहस्साइं । पन्नासं च सहस्सा कुलकोडीणं मुणेयव्वा ।।४।।' (कुलकोटिशतसहस्राणि द्वात्रिंशत् अष्टाष्टनव च पञ्चविंशतिः । एकेन्द्रियद्वित्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियहरितकायानाम् ।।१।। अर्धत्रयोदश द्वादश

दश दश नव चैव कोटीलक्षाः । जलचरपक्षिचतुष्पदोरोभुजपरिसर्पजीवानाम् ।।२।। पञ्चविंशतिः षड्विंशतिश्च शतसहस्राणि नारकसुरयोः । द्वादश च शतसहस्राणि कुलकोटीनां मनुष्याणाम् ।।३।। एका कोटीकोटी सप्तनवतिश्च शतसहस्राणि । पञ्चाशच्च सहस्राणि कुलकोटीनां मुणितव्यानि ।।४।।) अङ्कतोऽपि १६७५० 0000000000 सकलकुलसङ्ग्रहोऽयं बोद्धव्य इति ।। उक्ता परूपणा, तदनन्तरं लक्षणद्वारमाह-

दंसणनाणचरित्ते चरियाचरिए अदाणलाभे अ ।
उवभोगभोगवीरिय इंदियविसए य लद्धी य ।।१५६।।
उवओगजोगअज्झवसाणे वोसुं च लद्धि णं उदया (ओदइया)।
अट्ठविहोदय लेसा सन्नुसासे कसाए अ ।।१५७।।

'दर्शनं' सामान्योपलब्धिरूपं चक्षुरचक्षुवधिकेवलाख्यं, मत्यादीनि ज्ञानानि स्वपरिच्छेदिनो जीवस्य परिणामाः ज्ञानावरणविगमव्यक्ता-स्तत्त्वार्थ-परिच्छेदाः, सामायिकच्छेदोपस्थाप्य-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्म-सम्परायययथाख्यातानि, चारित्रं, चारित्राचारित्रं देशविरतिः स्थूलप्राणा-तिपातादिनिवृत्तिलक्षणं श्रावकानां, तथा दानलाभभोगोपभोगवीर्य-श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनाख्याः दश लब्धयः जीवद्रव्याव्यभिचारिण्यो लक्षणं भवन्ति, तथोपयोगः-साकारोऽनाकारश्चाष्टचतुर्भेदः, योगो मनोवाक्काया-ख्यस्त्रिधा, अध्यवसायाश्चानेकविधाः सूक्ष्माः मनःपरिणामविशेषाः, विष्वग्-पृथग् लब्धीनामुदयाः-प्रादुर्भावाः क्षीर-मध्वास्रवादयः, ज्ञानाव-रणाद्यान्तरायावसानकर्माष्टकस्य स्वशक्तिपरिणाम उदयः, लेश्याः-कृष्णा-दिभेदा अशुभाः शुभाश्च कषाययोगपरिणतिविशेषसमुत्थाः, संज्ञास्त्वाहार-भयपरिग्रहमैथुनाख्याः, अथवा दशभेदाः-अनन्तरोक्ताश्चतस्रः क्रोधाद्याश्च चतस्रस्तथौघसंज्ञा लोकसंज्ञा च, उच्छ्वासनिःश्वासौ प्राणापानौ, कषायाः कषः-संसारस्तस्यायाः क्रोधादयोऽनन्तानुबन्ध्यादिभेदात् षोडशविधाः । एतानि गाथाद्वयोपन्यस्तानि द्वीन्द्रियादीनां लक्षणानि यथासम्भवमव-

गन्तव्यानीति, न चैवंविधलक्षणकलापसमुच्चयो घटादिष्वस्ति, तसमात्तत्राचैतन्यमध्यवस्यन्ति विद्वांस: ।। अभिहितलक्षण-कलापोपसञ्जिहीर्षया तथा परिमाणप्रतिपादनार्थं गाथामाह-

लक्खणमेवं चेव उ पयरस्स असंखभागमित्ता उ ।
निक्खमणे य पवेसे एगाईयावि एमेव ।।१५८।।

तुशब्द: पर्याप्तिवचन:, द्वीन्द्रियादिजीवानां लक्षणं-लिङ्गमेतावदेव दर्शनादि परिपूर्ण, नातोऽन्यदधिकमस्तीति । परिमाणं पुन: क्षेत्रत: संवर्त्तितलोकप्रतरासङ्ख्येय-भागावर्त्तिप्रदेशराशिपरिमाणास्त्रसकायप-र्याप्तका:, एते च बादरतेजस्कायपर्याप्तकेभ्योऽसंख्येयगुणा:, त्रसकाय-पर्याप्तकेभ्यस्त्रसकायिकापर्याप्तका: असंख्येयगुणा:, तथा कालत: प्रत्युत्पन्नत्रसकायिका: सागरोपमलक्षपृथक्त्वसमयराशिपरिमाणा जघन्य-पदे, उत्कृष्टपदेऽपि सागरोपमलक्षपृथक्त्वसमयराशिपरिमाणा जघन्यपदे, एवेति, तथा चागम:- 'पडुप्पन्नतसकाइया केवतिकालस्स निल्लेवा सिया ?, गोयमा ! जहन्नपए सागरोवमसयसहस्सपुहुत्तस्स उक्कोपदेऽवि सागरोव-मसयसहस्सपुहुत्तस्स'।(प्रत्युत्पन्नत्रसकायिका: कियता कालेन निर्लेपा: स्यु: ?, गौतम ! जघन्यपदे सागरोपमशतसहस्रपृथक्त्वेन उत्कृष्टपदेऽपि सागरोपम-शतसहस्रपृथकत्वेन ।) उद्वर्तनोपपातौ गाथाशक्लेनाभि-दधातिनिष्क्रमणम्-उद्वर्तनं प्रवेश:-उपपात: जघन्येनैको द्वौ त्रयो वा उत्कृष्टस्तु 'एवमेव'ति प्रतरस्यासंख्येयभागवर्त्तिप्रदेशराशिपरिमाणा एवेत्यर्थ: ।। साम्प्रतमविरहितप्रवेशनिर्गमाभ्यां परिमाणविशेषमाह-

निक्खमपवेशकालो समयाई इत्थ आवलीभागो ।
अंतोमुहुत्तऽविरहो उदहिसहस्साहिए दोन्नि ।।१५९।। दारं ।।

जघन्येन अविरहिता संतता त्रसेषु उत्पत्तिर्निष्क्रमो वा जीवानामेकं समयं द्वौ त्रीन् वेत्यादि, उत्कृष्टेनात्रावलिकाऽसंख्येयभागमात्रं कालं सततमेव निष्क्रम: प्रवेशो वा, एकजीवाङ्गीकरणेनाविरहश्चिन्त्यते गाथाप-

श्चिमार्द्धेन–अविरहः सातत्येनावस्थानम्, एकजीवो हि त्रसभावेन जघन्य–तोऽन्तर्मुहुर्तमासित्वा पुनः पृथिव्याद्येकेन्द्रियेषूत्पद्यते, प्रकर्षेणाधिकं सागरोपमसहस्रद्वयं च त्रसभावेनावतिष्ठते सन्ततमिति ।। उक्तं प्रमाणद्वारं, साम्प्रतमुपभोगशस्त्रवेदनाद्वारत्रयप्रतिपादनायाह–

मंसाईपरिभोगो सत्थं सत्थाइयं अणेगविहं ।
सारीरमाणसा वेयणा य दुविहा बहुविहा य ।।१६०।। दारं ।।

मांसचर्मकेशरोमनखपिच्छदन्त स्नाय्वस्थिविषाणादि भिस्त्रसजीव–सम्बन्धिभिरुपभोगो भवति, शस्त्रं पुनः 'शस्त्रादिकमिति' शस्त्रं खड्गतो–मरक्षुरिकादि तदादिर्यस्य जलानलादेस्तच्छस्त्रादिकमनेकविधंस्वकायपर–कायोभयद्रव्यभावभेदभिन्नमनेकप्रकारं त्रसकायस्येति, वेदना चात्र प्रस–ङ्गेनोच्यते–सा च शरीरसमुत्था मनःसमुत्था च द्विविधा यथासम्भवं, तत्राद्या शल्यशलाकादिभेदजनिता, इतरा प्रियविप्रयोगप्रियसम्प्रयोगा–दिकृता, बहुविधा च ज्वरातीसारकासश्वासभगन्दरशिरोरोगशूलगुदकील–कादिसमुत्था तीव्रेति ।। पुनरप्युपभोगप्रपञ्चाभिधित्सयाऽऽह–

मंसस्स केइ अट्ठा केइ चम्मस्स केइ रोमाणं ।
पिच्छाणं पुच्छाणं दंताणऽट्ठा वहिज्जंति ।।१६१।।
कई वहंति अट्ठा केइ अणट्ठा पसंगदोसेणं ।
कम्मपसंगपसत्ता बंधंति वहंति मारंति ।।१६२।।

मांसार्थं मृगशूकरादयो वध्यन्ते, चर्मार्थं चित्रकादयः, रोमार्थं मूषिकादयः, पिच्छार्थं मयूरगृद्धकपिञ्जुरुदुकादयः, पुच्छार्थं चमर्यादयः, दन्तार्थं वारणवराहादयः, वध्यन्त सति सर्वत्र सम्बध्यत इति ।। तत्र केचन पूर्वोक्त–प्रयोजनमुद्दिश्य घ्नन्ति, केचित्पुनः प्रयोजनमन्तरेणापि क्रीडया घ्नन्ति, तथा परे प्रसङ्गदोषात् मृगलक्षक्षिप्तेषु लेलुकादिना तदन्तरालव्यवस्थिता अनेके कपोतकपिञ्जलशुकसारिकादयो हन्यन्ते, तथा कर्म–कृष्याद्यनेकप्रकारं तस्य प्रसङ्गः–अनुष्ठान तत्र प्रसक्ताः–तन्निष्ठाः

सन्तस्त्रसकायिकान् बहून् बन्धन्ति रज्ज्वादिना, घ्नन्ति-कशलकुटादिभिः ताडयन्ति, मारयन्ति-प्राणैर्वियोजयन्तीति ।। एवं विधानादिद्वारकलाप-मुपवर्ण्य सकलनिर्युक्त्यर्थोपसंहारायाह-

सेसाइं दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
एवं तसकायंमी निज्जुत्ती कित्तिया एसा ।।१६३।।

उक्तव्यतिरिक्तानि शेषाणि द्वाराणि तान्येव वाच्यानि यानि पृथ्वीस्वरूपसमधिगमे निरूपितानि, अत एवमशेषद्वाराभिधानात्त्रसकाये निर्युक्तिः कीर्त्तितैषा सकला भवतीत्यवगन्तव्येति ।। साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्-

से बेमि संतिमे तसा पाणा, तंजहा-अंडया पोयया जराउआ रसया संसेयया संमुच्छिमा उब्भिया उववाइया, एस संसारेत्ति पवुच्चई ।। सू० ४८ ।।

अस्य चानन्तरपरस्परादिसूत्रसम्बन्धः प्राग्वद्वाच्यः, सोऽहं ब्रवीमि येन मया भगवद्वदनारविन्दविनिसृतार्थजातावधारणात् यथावदुपलब्धं तत्त्वमिति, 'सन्ति' विद्यन्ते त्रस्यन्तीति त्रसाः-प्राणिनो द्वीन्द्रियादयः, ते च कियद्भेदाः किंप्रकाराश्चेति दर्शयति-'तद्यथे'ति वाक्योपन्यासार्थः, यदिवा 'तत्' प्रकारा-न्तरमर्थतो यथा भगवताऽभिहितं तथाऽहं भणामीति, अण्डाज्जाताः अण्डजाः-पक्षिगृहकोकिलादयः, पोतादेव जायन्ते पोतजाः 'अन्येष्वपि दृश्यते' (पा-३-२-१०१) इति जनेर्डप्रत्ययः, ते च हस्तिवल्गुलीचर्मजलूकादयः, जरायुवेष्टिता जायन्त इति जरायुजाः, पूर्ववत् डप्रत्ययः, गोमहिष्यजाविकमनुष्यादयः, रसाज्जाता रसजाः-तक्रारनाल-दधितीमनादिषु पायुकुम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्ति, संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजाः-मत्कुणयूकाशतपदिकादयः, सम्मूर्छनाज्जाताः सम्मूर्छनजाः-शलभ-पिपीलिकामक्षिकाशालिकादयः, उद्भेदनमुद्भित्ततो जाता उद्भिजाः, पृषोदरादित्वाद्दलोपः पतङ्गखञ्जरीटपारीप्लवादयः, उपपाताज्जाता

उपपातजाः, अथवा उपपाते भवा औपपातिकाः-देवा नारकाश्च, एवम-ष्टविधं जन्म यथासम्भवं संसारिणो नातिवर्तन्ते, एतदेव शास्त्रान्तरे त्रिविध-मुपन्यस्तं 'सम्मूर्च्छनगर्भोपपाता जन्म' (तत्त्वार्थ०अ०२ सूत्र ३२) रसस्वे-दजोद्भिज्जानां सम्मूर्छनजान्तःपातित्वात् अण्डजपोतजजरायुजानां गर्भजान्तः पातित्वात् देवनारकाणामौपपातिकान्तःपातित्वात् इति त्रिविधं जन्मेति, इह चाष्टविधं सोत्तरभेदत्वादिति । एवमेतस्मिन्नष्टविधे जन्मनि सर्वे त्रसज-न्तवः संसारिणो निपतन्ति, नैतद्व्यतिरेकेणान्ये सन्ति, एते चाष्टविध-योनिभाजोऽपि सर्वलोकप्रतीता बालाङ्गनादिजनप्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्याः, 'सन्ति च' अनेन शब्देन त्रैकालिकमस्ति-त्वं प्रतिपाद्यते त्रसानां, न कदाचिदेतैर्विरहितः संसारः सम्भवतीति, एतदेव दर्शयति- 'एस संसारेत्ति पवुच्चति' एषः-अण्डजादिप्राणिकलापः संसारः प्रोच्यते, नातोऽन्यस्त्र-सानामुत्पत्तिप्रकारोऽस्तीत्युक्तं भवति ।। कस्य पुनरत्राष्टविधभूतग्रामे उत्पत्तिर्भवतीत्याह-

मंदस्सावियाणओ ।। सू० ४९ ।।

मन्दो द्विधा-द्रव्यभावभेदात्, तत्र द्रव्यमन्दोऽऽतिस्थूलोऽतिकृशो वा, भावमन्दोऽप्यनुपचितबुद्धिर्बालः कुशास्त्रवासितबुद्धिर्वा, अयमपि सद्बुद्धेरभावाद्बाल एव, इह भावमन्देनाधिकारः, 'मन्दस्ये'ति बालस्या-विशिष्टबुद्धेः अत एव अविजानतोहिताहितप्राप्तिपरीहारशून्यमनसः इत्येषोऽनन्तरोक्तः संसारो भवतीति ।। यद्येवं ततः किमित्याह-

निज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिनिव्वाणं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भुयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अस्सायं अपरि-निव्वाणं महब्भयं दुक्खंति बेमि, तसंति पाणा पदिसो दिसासु य ।। सू० ५० ।।

एवमिमं त्रसकायमागोपालाङ्गनादिप्रसिद्धं निश्चयेन ध्यात्वा निर्ध्याय चिन्तयित्वेत्यर्थः, क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियापेक्षत्वाद् ब्रवीमीत्युत्तरक्रिया सर्व्वत्र योजनीयेति । पूर्व्वं च मनसाऽऽलोच्य ततः प्रत्युपेक्षणं भवतीति

दर्शयति– 'पडिलेहेत्त'त्ति प्रत्युपेक्ष्य–दृष्ट्वा यथावदुपलभ्येत्यर्थः, किं तदिति दर्शयति– 'प्रत्येक'मित्येकमेकं त्रसकायं प्रति परिनिर्वाणं–सुखं प्रत्येकसुखभाजः सर्वेऽपि प्राणिनः नान्यदीयमन्य उपभुङ्क्ते सुखमित्यर्थः, एष च सर्व्वप्राणिधर्म्म इति दर्शयति– सर्वेषां प्राणिनां–द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां, तथा सर्व्वेषां भूतानां–प्रत्येक–साधारणसूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकत–रूणामिति, तथा सर्वेषां जीवानां इति–गर्भव्युत्क्रान्तिकसम्मूर्च्छनजौप–पातिकपञ्चेन्द्रियाणां, तथा सर्व्वेषां सत्त्वानां इति–पृथिव्याद्येकेन्द्रि–याणामिति, इह च प्राणादिशब्दानां यद्यपि परमार्थतोऽभेदस्तथापि उक्तन्यायेन भेदो द्रष्टव्यः, उक्तं च– 'प्राणाद्वित्रिचतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः (ज्ञेया) शेषाः सत्त्वा उदीरिताः (प्रकीर्तिताः) ।।१।।' इति, यदिवाशब्दव्युत्पत्तिद्वारेण समभिरूढनयमतेन भेदो द्रष्टव्यः (भ्युपगंतव्यः) तद्यथा–सततप्राणधारणात्प्राणाः कालत्रय–भवनाद् भूताः त्रिकालजीवनात् जीवाः सदाऽस्तित्वात्सत्त्वा इति, तदेवं विचिन्त्य प्रत्युपेक्ष्य च यथा सर्वेषां जीवानां प्रत्येकं परिनिर्वाणं–सुखं तथा प्रत्येकमसातम्–अपरिनिर्वाणं महाभयं दुःखमयं ब्रवीमि, तत्र दुःख–यतीति दुःखं, तद्विशिष्यते–किंविशिष्टम् ?– 'असातम्' असद्वेद्यकर्मांश–विपाकजमित्यर्थः, तथा 'अपरिनिर्वाण'मिति समन्तात् सुखं परिनिर्वाणं न परिनिर्वाणमपरिनिर्वाणं समन्तात् शरीरमनःपीडाकरमित्यर्थः, तथा 'महाभय'मिति महच्च तद्भयं च महाभयं, नातः परमन्यद् भयमस्तीति महाभयं, तथाहि–सर्व्वेऽपि शारीरान्मानसाच्च दुःखादुद्विजन्ते प्राणिन इति, इति शब्दएवमर्थे, एवमहं ब्रवीमि सम्यगुपलब्धतत्त्वो यत्प्रागुक्तमिति । एतच्च ब्रवीमीत्याह– 'तसंती'त्यादि, एवंविधेन च असातादि–विशेषणविशिष्टेन दुःखेनाभिभूतास्त्रस्यन्ति–उद्विजन्ति प्राणा इति प्राणिनः, कुतः पुनरुद्विजन्तीति दर्शयति– प्रगता दिक् प्रदिग्विदिक् इत्यर्थः, ततः प्रदिशः सकाशादुद्विजन्ति, तथा प्राच्यादिषु च दिक्षु व्यवस्थितास्त्रस्यन्ति,

एताश्च प्रज्ञापकविधिविभक्ता दिशोऽनुदिश गृह्यन्ते, जीवव्यवस्थानश्रवणात्, ततश्चायमर्थः प्रतिपादितो भवति काक्वा–न काचिद्दिगनुदिग्वा यस्यां न सन्ति त्रसाः त्रस्यन्ति वा न यस्यां स्थिताः कोशिकारकीटवत्, कोशिकारकीटो हि सर्वदिग्भ्योऽनुदिग्भ्यश्च बिभ्यदात्मसंरक्षणार्थं वेष्टनं करोति शरीरस्येति, भावदिगपि न काचि–त्तादृश्यस्ति यस्यां वर्त्तमानो जन्तुर्न त्रस्येत् शारीरमानसाभ्यां दुःखाभ्यां सर्वत्र नरकादिषु जघन्यन्ते प्राणिनोऽतस्त्रासपरिगतमनसः सर्वदाऽवगन्तव्याः ।। एवं सर्वत्र दिक्ष्वनुदिक्षु च त्रसाः सन्तीति गृह्णीमः, दिग्विदिग्व्यवस्थितास्त्रसास्त्रस्यन्तीत्युक्तं, कुतः पुनस्त्रस्यन्ति ?–यस्मात्तदारम्भवद्भिस्ते व्यापाद्यन्ते, किं पुनः कारणं ?, ते तानारम्भन्त इत्यत आह–

तत्थ तत्थ पुढो पास, आतुरा परितावंति, संति पाणा पुढो सिया ।।सू०५१।।

'तत्र तत्र' तेषु तेषु कारणेषूत्पन्नेषु वक्ष्यमाणेषु अर्चाजिनशोणितादिषु च पृथग्विभिन्नेषु प्रयोजनेषु, पश्येति शिष्यचोदना. किं तत्पश्येति दर्शयति, 'मांसभक्षणादिगृद्धा आतुराः'अस्वस्थमनसः परिसमन्तात्तापयन्ति–पीडयन्ति नानविधवेदनोत्पादनेन प्राणिव्यापादनेन वा तदारम्भिणस्त्रसानिति, येन केनचिदारम्भेण प्राणिनां सन्तापनं भवतीति दर्शयन्नाह–'संती'त्यादि, 'सन्ति' विद्यन्ते प्रायः सर्वत्रैव प्राणाः प्राणिनः 'पृथक्' विभिन्नाः द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः 'श्रिताः' पृथिव्यादिश्रिताः. एतच्च ज्ञात्वा निरवद्यानुष्ठायिना भवितव्यमित्यभिप्रायः ।। अन्ये पुनरन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयन्नाह–

लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए

जाईमरणमोयणाए दुक्ख-पडिघायहेउं से सयमेव तसकायसत्थं समारभति अण्णेहिं वा तसका-यसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा तसकायसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति ।।सू० ५२ ।।

पूर्ववत् व्याख्येयं, यावत् 'अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ'त्ति ।। यानि कानिचित्कारणान्युद्दिश्य त्रसवधः क्रियते तानि दर्शयितुमाह-

से बेमि अप्पेगे अच्चाए हणंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति, एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए बालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हारुणीए अट्ठीए अट्ठिमिंजाए अट्ठाए अणट्ठाए, अप्पेगे हिंसिंसु मेत्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसंति मेत्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति ।।सू० ५३ ।।

तदहं ब्रवीमि यदर्थं प्राणिनस्तदारम्भप्रवृत्तैर्व्यापाद्यन्त इति, अप्येकेऽर्चायै घ्नन्ति, अपिरुत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः, 'एके' केचन तदर्थित्वेनातुराः, अर्च्यतेऽसावाहारालङ्कारविधानैरित्यर्चा-देहस्तदर्थं व्यापादयन्ति, तथाहि-लक्षणवत्पुरुषमक्षतमवतयङ्गं व्यापाद्य तच्छरीरेण विद्यामन्त्र-साधनानि कुर्व्वन्ति उपयाचितं वा यच्छन्ति दुर्गादीनामग्रतः, अथवा विषं येन भक्षितं स हस्तिनं मारयित्वा तच्छरीरे प्रक्षिप्यते पश्चाद्विषं जीर्यति, तथा अजिनार्थं-चित्रकव्याघ्रादीन् व्यापादयन्ति, एवं मांसशोणि-तहृदयपित्तवसापिच्छ-पुच्छवाल-शृङ्गविषाणदन्तदंष्ट्रानख-स्नाय्व-स्थ्यस्थिमिञ्जादिष्वपि वाच्यं, मांसार्थं सूकरादयः, त्रिशूलालेखार्थं

शोणितं गृह्णन्ति, हृदयानि साधका गृहीत्वा मथ्नन्ति, पित्तार्थं मयूरादयः, वसार्थं व्याघ्रमकरवराहादयः, पिच्छार्थं मयूरगृध्रादयः, पुच्छार्थं रोझादयः, वालार्थं चमर्यादयः, श्रृङ्गार्थं रुरुखड्गादयः, तत्किल श्रृङ्गं पवित्रमिति याज्ञिका गृह्णन्ति, विषाणार्थं हस्त्यादयः, दन्तार्थं श्रृगालादयः, तिमिरापहत्वात्तद्दन्तानां, दंष्ट्रार्थं वराहादयः, नखार्थं व्याघ्रादयः, स्नाय्वर्थं गोमहिष्यादयः, अस्थ्यर्थं शङ्खशुक्त्यादयः, अस्थिमिञ्जार्थं महिषवराहादयः, एवमेके यथोपदिष्टप्रयोजनकलापापेक्षया घ्नन्ति, अपरे तु कृकलासगृहकोकिलिकादीन् विना प्रयोजनेन व्यापादयन्ति, अन्ये पुनः 'हिंसिसु मेत्ति' हिंसितवानेषीऽस्मत्स्वजनान्सिंहः सर्पोऽरिर्वाऽतो घ्नन्ति, मम वा पीडां कृतवन्त इत्यतो हन्ति, तथा अन्ये वर्त्तमानकाल एव हिनस्ति अस्मान् सिंहोऽन्यो वेति घ्नन्ति, तथाऽन्येऽस्मानयं हिंसिष्यतीत्यनागतमेव सर्पादिकं व्यापादयन्ति । एवमनेकप्रयोजनोपन्यासेन हननं त्रसविषयं प्रदर्श्य उद्देशकार्थमुपसञ्जिहीर्षुराह-

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेति आरंभा परिण्णाया भवन्ति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं तसकासत्थं समारंभेज्जा णेवऽण्णेहिं तसकायसत्थं समारंभावेज्जा णेवऽण्णे तसकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते तसकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्तिबेमि ।। सू० ५४।।

प्राग्वद्वाच्यं (प्राग्वद्भावनीयं) यावत्स एवं मुनिस्त्रसकायसमारम्भविरतत्वात् परिज्ञातकर्म्मत्वात्प्रत्याख्यातपापकर्म्मत्वादिति ब्रवीमि भगवतः त्रिलोकबन्धोः परमकेवलालोकसाक्षात्कृतसकलभुवनप्रपञ्चस्यो-पदेशादिति षष्ठोद्देशकः समाप्तः ।। ।। इति प्रथमाध्ययने षष्ठ उद्देशकः ।।१-६।।

।। अथ प्रथमाध्ययने सप्तमोद्देशकः ।।

उक्तः षष्ठोद्देशकः, साम्प्रतं सप्तमः समारभ्यते, अस्य चायमभि-

सम्बन्धः –अभिनवधर्म्माणां दुःश्रद्धानत्वादल्पपरिभोगत्वादुत्क्रमायात-स्योक्तशेषस्य वायोः स्वरूपनिरूपणार्थमिदमुपक्रम्यते–तदनेन सम्बन्धे-नायातस्यास्योद्देशकस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे वायूद्देशक इति, तत्र वायोः स्वरूपनिरूपणाय कतिचिद्द्वारातिदेशगर्भां निर्युक्तिकृद्–गाथामाह–

वाउस्सऽवि दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुवभोगसत्थेय ।।१६४।।

वातीति वायुस्तस्य वायोरपि तान्येव द्वाराणि यानि पृथिव्यां प्रतिपादितानि, नानात्वं–भेदः, तच्च विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रेषु, चशब्दाल्लक्षणे च द्रष्टव्यमिति ।। तत्र विधानप्रतिपादनायाह–

दुविहा य वाउज्जीवा सुहुमा तह बायरा उ लोगंमि ।
सुहुमा य सव्वलोए पंचेव य बायरविहाणा ।।१६५।।

वायुरेव जीवा वायुजीवाः ते च द्विविधाः–सूक्ष्मबादरनामकर्मो-दयात् सूक्ष्मा बादराश्च, तत्र सूक्ष्माः सकललोकव्यापितया अवतिष्ठन्ते, दत्तकपाटसकलवातायनद्वारगेहान्तर्द्धूमवत् व्याप्त्या स्थिताः, बादरभेदास्तु पञ्चैवानन्तर–गाथया वक्ष्यमाणा इति ।। बादरभेदप्रतिपादनायाह–

उक्कलिया मंडलिया गुञ्जा घणवाय सुद्धवाया य ।
बायरवाउविहाणा पंचविहा वण्णिया एए ।।१६६।।

दारं–स्थित्वा स्थित्वोत्कलिकाभिर्यो वाति स उत्कलिकावातः, मण्डलिकावातस्तु वातोलीरूपः, गुञ्जा–भम्भा तद्वत् गुञ्जन् यो वाति स गुञ्जावातः, घनवातोऽत्यन्तघनः पृथिव्याद्याधारतया व्यवस्थितो हिमपटलकल्पो, मन्दस्तिमितः शीतकालादिषु शुद्धवातः, ये त्वन्ये प्रज्ञापनादौ प्राच्यादिवाता अभिहितास्तेषामेष्वेव यथायोगमन्तर्भावो द्रष्टव्य इति, एवमित्येते बादरवायुविधानानि–भेदाः 'पञ्चविधाः' पञ्चप्रकारा व्यावर्णिता इति ।। लक्षणद्वाराभिधित्सयाऽऽह–

जइ देवस्स सरीरं अंतद्धाणं व अंजणाईसुं ।
एओवम आएसो वाएऽसंतेऽवि रूवंमि ।।१६७।।

यथा देवस्य शरीरं चक्षुषाऽनुपलभ्यमानमपि विद्यते चेतनावच्चाध्यवसीयते, देवाः स्वशक्तिप्रभावात्तथाभूतं रूपं कुर्व्वन्ति यच्चक्षुषा नोपलभ्यते, न चैतद्वक्तुं शक्यते–नास्त्यचेतनं चेति, तद्वद्वायुरपि चक्षुषो विषयो न भवति, अस्ति च चित्तवांश्चेति, यथा वाऽन्तर्द्धानमज्जनविद्यामन्त्रैर्भवति मनुष्याणां, न च नास्तित्वमचेतनत्वं चेति, एतदुपमानो(नेन) वायावपि भवति 'आदेशो' व्यपदेशोऽसत्यपि रूप इति, अत्र वासच्छब्दो नाभाववचनं, किं त्वसद्रुपं वायोरिति चक्षुर्ग्राह्यं तद्रुपं न भवति, सूक्ष्मपरिणामात्, परमाणुरवि, रूपरसस्पर्शात्मकश्च वायुरिष्यते, व यथाऽन्येषां वायुः स्पर्शवानेवेति, प्रयोगार्थश्च गाथया प्रदर्शितः, प्रयोगश्चायंचेतनावान् वायुः, अपरप्रेरिततिर्यगनियमितगतिमत्त्वात्, गवाश्वादिवत्, तिर्यगेव गमननियमाभावात् अनियमितविशेषणोपादानाच्च परमाणुनाऽनेकान्तिकासंभवः, तस्य नियमितगतिमत्त्वात्, जीवपुद्गलयोः 'अनुश्रेणिगति' (तत्त्वा०अ०२ सू० २७) रिति वचनात्, एवमेष वायुः–घनशुद्धवातादिभेदोऽशस्त्रोपहतश्चेतनावानवगन्तव्य इति ।। परिमाणद्वारमाह–

जे बायरपज्जत्ता पयरस्स असंखभागमित्ता ते ।
सेसा तिन्निवि रासी वीसुं लोगा असंखिज्जा ।।१६८।। दारं ।।

ये बादरपर्याप्तका वायवस्ते संवर्त्तितलोकप्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्तिप्रदेशराशिपरिमाणाः, शेषास्त्रयोऽपि राशयो विष्वक्पृथगसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणा भवन्ति, विशेषश्चायमत्रावगन्तव्यः–बादराप्कायपर्याप्तकेभ्यो बादरवायुपर्याप्तका असङ्ख्येयगुणाः बादराप्कायापर्याप्तकेभ्यो बादरवायुकायापर्याप्तका असङ्ख्येयगुणाः सूक्ष्माप्कायापर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्मवाय्वपर्याप्तका विशेषाधिकाः सूक्ष्माप्कायपर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्मवायुपर्याप्तका विशेषाधिकारः ।। उपभोगद्वारमाह–

विजय नेमिसूरि-ज्ञान

वियणघमणाभिधारण उस्सिंचणफुसणआणुपाणू अ ।
बायरवाउक्काए उवभोगगुणो मणुस्साणं ।।१६९।।

व्यजनभस्त्राध्माताभिधारणोत्सिञ्चनफूत्कार-प्राणापानादिभिर्बादरवायुकायेन उपभोग एव गुण उपभोगगुणो मनुष्याणामिति ।। शस्त्रद्वाराभिधित्सयाऽऽह, तत्र शस्त्रं द्रव्यभावभेदादिद्विविधं, द्रव्यशस्त्राभिधित्सयाऽऽह-

विअणे अ तालविंटे सुप्पसियपत्त चेलकण्णे य ।
अभिधारणा य बाहिं गंधग्गी वाउसत्थाइं ।।१७०।।

व्यजनं तालवृन्ते सूर्पसितपत्रचेलकर्णादयः द्रव्यशस्त्रमिति, तत्र सितमिति चामरं, प्रस्विन्नो यद्बहिरवतिष्ठते वातागमनमार्गे साऽभिधारणा, तथा गन्धाः-चन्दनोशीरादीनां अग्निर्ज्वाला प्रतापश्च, तथा प्रतिपक्षवातश्च शीतोष्णादिकः, प्रतिपक्षवायुग्रहणेन स्वकायादिशस्त्रं सूचितमिति, एवं भावशस्त्रमपि दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायलक्षणमवगन्तव्यमिति ।। अधुना सकलनिर्युक्त्यर्थोपसञ्जिहीर्षुराह-

सेसाइं दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
एवं वाउद्देसे निज्जुत्ती कित्तिया एसा ।।१७१।।

'शेषाणि' उक्तव्यतिरिक्तानि तान्येव द्वाराणि पृथिवीसमधिगमे यान्य-भिहितानीति, एवं सकलद्वारकलापव्यावर्णनाद् वायुकायोद्देशके निर्युक्तिः कीर्त्तितैषाऽवगन्तव्येति ।। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽ स्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्-'पहू एजस्स दुगंछणाए'त्ति, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके पर्यन्तसूत्रे त्रसकाय-परिज्ञानं तदारम्भपरिवर्जनं च मुनित्वकारणमभिहितम्, इहापि तदेव द्वयं वायुकायविषयं मुनित्वकारणमेवोच्यते, तथा परम्परसूत्रसम्बन्धः, इहमेगेसिं णो णायं भवइ'त्ति, किं तत् ज्ञातं भवति ?, 'पहु एजस्स दुगुंछणाए'त्ति तथा आदिसूत्रसम्बन्धश्च 'सुयं मे आउसंतेण'

मित्यादि, किं तत् श्रुतं ?, यत्प्रागुपदिष्टं, तथैतच्च-

पहू एजस्स (य एगस्स) दुगुंछणाए ।।सू० ५५।।

'दुगुंछण'त्ति जुगुप्सा प्रभवतीति प्रभुः-समर्थः योग्यो वा, कस्य वस्तुनः समर्थ इति?, 'एजृ कम्पने' एजतीत्येजो वायुः कम्पनशीलत्वात् तस्यैजस्य जुगुप्सा-निन्दा तदासेवनपरिहारो निवृत्तिरितियावत् तस्यां-तद्विषये प्रभुर्भवति, वायुकायसमारम्भनिवृत्तौ शक्तो भवतीतियावत्, पाठान्तरं वा 'पहू य एगस्स दुगुंछणाए' उद्रेकावस्थावर्त्तिनैकेन गुणेन स्पर्शाख्येनोपलक्षित इत्येको-वायुस्तस्यैकस्य एकगुणोपलक्षितस्य वायोर्जुगुप्सायां प्रभुः, चशब्दात् श्रद्धाने च प्रभुर्भवतीति, अर्थात् यदि श्रद्धाय जीवतया जुगुप्सते ततः ।। योऽसौ वायुकायसमारम्भनिवृत्तौ प्रभुरुक्तस्तं दर्शयति-

आयकदंसी अहियंति णच्चा, जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ, एयं तुलमन्नेसिं ।। सू० ५६।।

'तकि कृच्छ्रजीवन' इत्यातङ्कनामातङ्कः-कृच्छ्रजीवनं-दुःखं, तच्च द्विविधं-शारीरं मानसं च, तत्राद्यं कण्टकक्षारशस्त्रगण्डलूतादिसमुत्थं, मानसं प्रियविप्रयोगप्रियसम्प्रयोगेप्सितालाभदारिद्रयदौर्मनस्यादिकृतम्, एतदुभयमातङ्कः, एनमातङ्कं पश्यति तच्छीलश्चेत्यातङ्कदर्शी, अवश्य-मेतदुभयमपि दुःखमापतति मय्यनिवृत्तवायुकायसमारम्भे, ततश्चेतद्वा-युकायसमारम्भणमातङ्कहेतुभूतमहितमिति ज्ञात्वैतस्मान्निवर्त्तते प्रभुर्भवतीति ।। यदिवाऽऽतङ्को द्वेधा-द्रव्यभावभेदात्, तत्र द्रव्यातङ्के इदमुदाहरणम-जंबुद्दीवे द्दीवे भरहे वासंमि अत्थि सुप्रसिद्धं । बहुणयरगुणसमिद्धं रायगिहं णाम णयरंति ।।१।। (जम्बूद्वीपे द्वीपे भरते वर्षेऽस्ति सुप्रसिद्धम् । बहुनगरगुणसमृद्धं राजगृहं नाम नगरमिति) तत्थासि गरुयदरियारिम-द्दणो भुयणनिग्गयपयावो । अभिगयजीवाजीवो राया णामेण जियसत्तू ।।२।। (तत्रासीत् गुरुदृप्तारिमर्दनो भुवननिर्गतप्रतापः । अभिगतजीवाजीवो

राजा नाम्ना जितशत्रुः ।।२।।) अणवरयगरुयसंवेगभाविओ धम्मघोस-पायमूले । सो अन्नया कयाई पमाइणं पासए सेहं ।।३।। (अनवरतगुरु-संवेगभावितो धर्मघोषपादमूले । सोऽन्यदा कदाचित्प्रमादिनं पश्यति शिष्यम् ।।३।।) चोइज्जंतमभिक्खं अवराहं तं पुणोऽवि कुणमाणं । तस्स हियट्ठं राया सेसाण य रक्खणट्ठाए ।।४।। (चोद्यमानमभीक्ष्णमपराधं तं पुनरपि कुर्वन्तम् । तस्य हितार्थं राजा शेषाणां च रक्षणार्थाय ।।४।।) आयरियाणुण्णाए आणावइ सो उ णियपुरिसेहिं । तिव्वुक्क-डदव्वेहिं संधियपुव्वं तहिं खारं ।।५।। (आचार्यानुज्ञया आनयति स तु निजपुरुषैः । तीव्रोत्कटद्रव्यैः संयुक्तपूर्वं तत्र क्षारम् ।।५।।) पक्खित्तो जत्थ णरो णवर गोदोहमेत्तकालेणं । णिज्जिण्णमंससोणिय अट्ठियसेसत्तणमुवेइ ।।६।। (प्रक्षिप्तो यत्र नरो नवरं गोदोहमात्रकालेन । निर्जीर्णमांसशोणितो-ऽस्थिशेषत्वमुपैति ।।६।।) दो ताहे पुव्वमए पुरिसे आणावए तहिं राया । एगं गिहत्थवेसं बीयं पासंडिणेवत्थं ।।७।। (द्वौ तदा पूर्वमृतौ पुरुषा-वानयति तत्र राजा । एक गृहस्थवेषं द्वितीयं पाषण्डिनेपथ्यम् ।।७।।) पुव्वं चिय सिक्खविए ते पुरिसे पुच्छए तहिं राया । को अवराहो एसिं ? भणंति आणं अइक्कमइ ।।८।। (पूर्वमेव शिक्षितान् तान् पुरुषान् पृच्छति तत्र राजा । कोऽपराधोऽनयोः ? भणन्ति आज्ञामतिक्रामति ।।८।।) पासंडिओ जहुत्ते ण पवट्टइ अत्तणो य आयारे । पक्खिवह खारमज्झे खित्ता गोदोहमेत्तस्स ।।९।। (पाखण्डिको यथोक्ते नप्रवर्त्तते आत्मनश्चाचारे । प्रक्षिपत क्षारमध्ये क्षिप्तौ गोदोहमात्रेण ।।९।।) दट्ठूणऽट्ठवसेसे ते पुरिसे अलियरोसरत्तच्छो । सेहं अवलोयंतो राया तो भणइ आयरियं ।।१०।। (दृष्ट्वाऽस्थ्यवशेषौ तौ पुरुषौ अलिकरोषरक्ताक्षः । शैक्षकमा-लोकयन् राजा ततो भणत्या-चार्यम् ।।१०।।) तुम्हवि कोऽवि पमादी ? सासेमि य तंपि णत्थि भणइ गुरू । जइ होही तो साहे तुम्हे च्चिय तस्स जाणिहिह ।।११।। (युष्माकमपि कोऽपि प्रमादी ?, शासयामि च

तमपि नास्ति भणति गुरुः । यदि भविष्यति तदा कथयिष्यामि यूयमेव त ज्ञास्यथ ।।११।।) सेहो गए णिवंमि भणई ते साहुणो उ ण पुणत्ति । होहं पमायसीलो तुम्हं सरणागओ धणियं ।।१२।। (शैक्षको गते नृपे भणति तान् साधूं स्तु न पुनरिति । भविष्यामि प्रमादशीलो युष्माकं शरणा-गतोऽत्यर्थम् ।।१२।।) जइ पुण होज्ज पमाओ पुणो ममं सड्ढ भावरहियस्स । तुम्हं गुणेहिं सुविहिय ! तो सावगरक्खसा मुच्चे ।।१३।। (यदि पुनर्भवेत्प्रमादः पुनर्मम शठ (श्राद्ध) भावरहितस्य । युष्माकं गुणैः सुविहिताः ततः श्रावकराक्षसात् मुञ्चेयम् ।।१३।।) आयंकभओविग्गो ताहे सो णिच्चउज्जुओ जाओ । कोवियमती य समए रण्णा मरिसाविओ पच्छा ।।१४।। (आतङ्कभयोद्विग्नस्तदा स नित्यमुद्युक्तो जातः । कोविद-मतिश्च समये राज्ञा क्षमितः पश्चात् ।।१४।।) दव्वायंकादंसी अत्ताणं सव्वहा णियत्तेइ । अहियारंभाउ सया जह सीसो धम्मघोसस्स ।।१५।। (द्रव्यातङ्कादर्शी आत्मानं सर्वथा निवर्त्तयति । अहितारम्भात् सदा यथा शिष्यो धर्मघोषस्य ।।१५।।) भावातङ्कदर्शी तु नरकतिर्यङ्गमनुष्यामरभवेषु प्रियविप्रयोगादिशारीरमानसातङ्कभीत्या न प्रवर्त्तते वायुसमारम्भे, अपि त्वहितमेतद्वायुसमारम्भणमिति मत्वा परिहरति, अतो य आतङ्कदर्शी भवति विमलविवेकभावात् स वायुसमारम्भस्य जुगुप्सायां प्रभुः, हिताहितप्राप्तिपरिहारानुष्ठानप्रवृत्तेः, तदन्यैवंविधपुरुषवदिति । वायुकाय-समारम्भनिवृत्तेः कारणमाह- 'जे अज्झत्थ'मित्यादि, आत्मानमधिकृत्य यद्वर्त्तते तदध्यात्मं, तच्च सुखदुः-खादि, तद्यो जानाति-अवबुध्यते स्वरूपतोऽवगच्छतीत्यर्थः, स बहिरपि प्राणिगणं वायुकायादिकं जानाति, यथैषोऽपि हि सुखाभिलाषी दुःखाच्चोद्विजते, यथा मयि दुःखमापतितमति-कटुकमसद्वेद्यस्वकर्मोदयादशुभफलं स्वानुभवसिद्धं एवं यो वेत्ति स्वात्मनि सुख च सद्वेद्यकर्मोदयात् शुभफलमेवं च योऽवगच्छति स खल्वध्यात्मं जानाति, एवं च योऽध्यात्मवेदी स बहिर्व्यवस्थितवायुकायादिप्राणिगण-

स्यापि नानाविधोपक्रमजनितं स्वपरसमुत्थं वा शरीरमनःसमाश्रयं दुःखं सुखं वा वेत्ति, स्वप्रत्यक्षतया परत्राप्यनुमीयते, यस्य पुनः स्वात्मन्येव विज्ञानमेवंविधं न समस्ति कुतस्तस्य बहिर्व्यवस्थितवायुकायादिष्वपेक्षा ?, यश्च बहिर्जानाति सोऽध्यात्मं यथावदवैति, इतरेतराव्यभिचारादिति । परात्मपरिज्ञानाच्च यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह- 'एयं तुलमन्नेसि'मित्यादि, एतां तुलां यथोक्तलक्षणाम्, अन्वेषयेद्गवेषयेदिति, का पुनरसौ तुला ?, यथाऽऽत्मानं सर्व्वथा सुखाभिलाषितया रक्षसि तथाऽपरमपि रक्ष, यथा परं तथाऽऽत्मानमित्येतां तुलां तुलितस्वपरसुखदुःखानुभवोऽन्वेषयेद्-एवं कुर्यादित्यर्थः, उक्तं च- 'कट्ठेण कंटएण व पाए विद्धस्स वेयणट्टस्स । जह होइ अनिव्वाणी सव्वत्थ जिएसुं तं जाण ।।१।।' (काष्ठेन कण्टकेन वा पादे विद्धस्य वेदनात्तस्य । यथा भवत्यनिर्वाणी (असाता) सर्वत्र जीवेषु तां जानीहि ।।१।।) तथा 'मरिष्यामीति यद् दुःखं, पुरुषस्योपजायते । शक्यस्तेनानुमानेन, परोऽपि परिरक्षितुम् ।।१।।' अतश्च यथा-ऽभिहिततुलातुलितस्वपरा नराः (स्वपरान्तराः) स्थावरजङ्गमजन्तुसङ्घात-संरक्षणायैव प्रवर्त्तन्ते, कथमिति दर्शयति-

इह संतिगया दविया णावकंखंति जीविउं ।।सू० ५७ ।।

'इह' एतस्मिन् दयैकरसे जिनप्रवचने शमनं शान्तिः-उपशमः प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणसम्यग् दर्शनज्ञानचरणक-लापः शान्तिरूच्यते, निराबाधमोक्षाख्यशान्तिप्राप्तिकारणत्वात्, तामेवंविधां शान्तिं गताः-प्राप्ताः शान्तिगताः, शान्तौ वा स्थिताः शान्तिगताः, द्रविका नाम रागद्वेषविनिर्मुक्ताः, द्रवः-संयमः सप्तदशविधः कर्म्मकाठिन्यद्रवणकारित्वाद्विलयहेतुत्वात् स येषां विद्यते ते द्रविकाः, नावकाङ्क्षन्ति-न वाञ्छन्ति नाभि-लषन्तीत्यर्थः, किं नावकाङ्क्षन्ति ? 'जीवीतुं' प्राणान् धारयितुं, केनोपायेन जीवितुं नाभिकाङ्क्षन्ति ?, वायुजीवोपमर्दनेनेत्यर्थः, शेषपृथिव्यादिजीवकायसंरक्षणं तु पूर्वोक्तमेव, समुदायार्थस्त्वयम्-इहैव जैने प्रवचने यः संयमस्तद्व्यवस्थिता

एवोन्मूलितातितुङ्गरागद्वेषद्रुमाः परभूतोपमर्दनिष्पन्नसुखजीविका-निरभिलाषाः साधवो, नान्यत्र, एवंविधक्रियावबोधाभावादिति ।। एवं व्यवस्थिते सति-

लज्जमाणे पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति । तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया । इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वाउसत्थं समारंभति अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणति, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ।। सू0 ५८ ।।

से बेमि संति संपाइमा पाणा आहच्च संपयंति य फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति, एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वाउसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं वाउसत्थं समारंभावेज्जा णेवऽण्णे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वाउसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णाय-कम्मेत्तिबेमि ।।सू0 ५९ ।।

पूर्ववन्नेयं ।। सम्प्रति षड्जीवनिकायविषयवधकारिणामपा-यदिदर्शयिषया तन्निवृत्तिकारिणां च सम्पूर्णमुनिभावप्रदर्शनाय सूत्राणि प्रक्रम्यन्ते-

एत्थंपि जाणे उवादीयमाणा, जे आयारे ण रमंति, आरंभमाणा विणयं वयंति, छदोवणीया अज्झोववण्णा, आरंभसत्ता पकरंति संगं ।।सू० ६०।।

एतस्मिन्नपि-प्रस्तुते वायुकाये, अपिशब्दात् पृथिव्यादिषु च समाश्रितमारम्भं ये कुर्व्वन्ति ते उपादीयन्ते-कर्म्मणा बध्यन्त इत्यर्थः, एकस्मिन् जीवनिकाये वधप्रवृत्तः शेषनिकायवधजनितेन कर्मणा बध्यते, किमिति ?-यतो न ह्येकजीवनिकायविषय आरम्भः शेषजीवनिकायोपमर्दमन्तरेण कर्त्तुं शक्यत इत्यतस्त्वमेवं जानीहि, श्रोतुरनेन परामर्शः, अत्र च द्वितीयार्थे प्रथमा, ततश्चैवमन्वयो लगयितव्यः-पृथिव्याद्यारम्भिणः शेषकायारम्भकर्मणा उपादीयमानान् जानीहि, के पुनः पृथिव्याद्यारम्भिणः शेषकायारम्भकर्म्मणोपादीयन्ते ? इति, आह-'जे आयारे ण रमंति' ये ह्यविदितपरमार्था ज्ञानदर्शनचरणतपोवीर्याख्य पञ्चप्रकाराचारे 'न रमन्ते' न धृतिं कुर्व्वन्ति, तदधृत्या च पृथिव्याद्यारम्भिणः, तान् कर्म्मभिरुपादीयमानान् जानीहि, के पुनराचारे न रमन्ते ?, शाक्यादिगम्बरपार्श्वस्थादयः । किमिति ?, यत आह- 'आरंभमाणा विणयं वयंति' आरम्भमाणा अपि पृथिव्यादीन् जीवान् विनयं संयममेव भाषन्ते, कर्माष्टकविनयनाद्विनयः-संयमः, शाक्यादयो हि वयमपि विनयव्यवस्थिता इत्येवं भाषन्ते, न च पृथिव्यादिजीवाभ्युपगमं कुर्व्वन्ति, तदभ्युपगमे वा तदाश्रितारम्भित्वात् ज्ञानाद्याचारविकलत्वेन नष्टशीला इति । किं पुनः कारणं ?, येनैवं ते दुष्टशीला अपि विनयव्यवस्थितमात्मानं भाषन्ते इत्यत आह-'छन्दोवणीया अज्झोववण्णा' छन्दः-स्वाभिप्रायः इच्छामात्रमनालोचितपूर्वापरं विषयाभिलाषो वा, तेन छन्दसा उपनीताः (छन्देनोपनीताः)-प्रापिता आरम्भमार्गमविनीता अपि विनयं भाषन्ते, अधिकमत्यर्थमुपपन्ना तच्चित्तास्तदात्मकाः अध्युपपन्नाः-विषयपरिभोगायत्तजीविता इत्यर्थः, य एवं विषयाशाकर्षितचेतसस्ते किं कुर्युरित्याह-'आरंभसत्ता पकरंति संगं' आरम्भणमारम्भः-सावद्यानुष्ठानं

तस्मिन् सक्ता:-तत्परा: प्रकर्षेण कुर्व्वन्ति, सज्यन्ते येन संसारे जीवा: स सङ्ग:-अष्टविधं कर्म्म विषयसङ्गो वा तं सङ्गं प्रकुर्व्वन्ति, सङ्गाच्च पुनरपि संसार:, पुन: २ तत्रैवोत्पत्ति:, आजवंजवीभावरूप:, एवंप्रकारमपायमवाप्नोति षड्जीवनिकायघात-कारीति ।। अथ यो निवृत्तस्तदारम्भात्स किंविशिष्टो भवतीत्यत आह-

से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं णो अण्णेसिं, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं छज्जीवनिकाय-सत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं छज्जीवनिकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे छज्जीवनिकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते छज्जी-वनिकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे-त्तिबेमि ।। सू०६१ ।।

'से' इति पृथिव्युद्देशकाद्यभिहितनिवृत्तिगुणभाक् षड्जीवनिकाय-हनननिवृत्तो 'वसुमान्' वसूनि द्रव्यभावभेदाद्द्विधाद्रव्यवसूनिम-रकतेन्द्रनीलवज्रादीनि भाववसूनिसम्यक्त्वादीनि तानि यस्य यस्मिन्वा सन्ति स वसुमान् द्रव्यवानित्यर्थ:, इह च भाववसुभिर्वसुमत्त्वमङ्गीक्रियते, प्रज्ञायन्ते यैस्तानि प्रज्ञानानियथावस्थितविषयग्राहीणि ज्ञानानि सर्वाणि समन्वागतानि प्रज्ञानानि यस्यात्मन: स सर्वसमन्वागतप्रज्ञान:-सर्वावबोधविशेषानुगत: सर्वेनिन्द्रियज्ञानै: पटुभि-र्यथावस्थितविषयग्राहि-भिरविपरीतैरनुगत इतियावत्, तेन सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेनात्मना, अथवा सर्वेषु द्रव्यपर्यायेषु सम्यगनुगतं प्रज्ञानं यस्यात्मन: स सर्वसमन्वागतप्रज्ञान आत्मा, भगवद्वचनप्रामाण्यदेवमेतत् द्रव्यपर्यायजातं नान्यथेति सामान्यवि-शेषपरिच्छेदान्निश्चिताशेषज्ञेयप्रपञ्चस्वरूप: सर्वसमन्वागतप्रज्ञान आत्मेत्यु-च्यते, अथवा-शुभाशुभफलसकलकलाप-परिज्ञानान्नरकतिर्यक्नराम-रमोक्षसुखस्वरूपपरिज्ञानाच्चापरितुष्यन्ननै-कान्तिकादिगुणयुक्ते संसारसुखे मोक्षानुष्ठानमाविष्कुर्व्वन् सर्वसमन्वा-गतप्रज्ञान आत्माऽभिधीयते, तेनैवंविधेनात्मना 'अकरणीयम्' अकर्त्तव्य-मिहपरलोकविरुद्धत्वाद-

कार्यमिति मत्वा नान्वेषयेत्-न तदुपादानाय यत्नं कुर्यादित्यर्थः, किं पुनः तदकरणीयं नान्वेषणीयमिति ?, उच्यते, 'पापं कर्म' अधःपतनकारित्वात्पापं क्रियत इति कर्म, तच्चाष्टादशविधं प्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रह क्रोधमानमायालोभ प्रेमद्वेषकल-हाभ्याख्यानपैशून्यपरपरिवादरत्यरतिमायामृषा मिथ्यादर्शनशल्याख्यमिति, एवमेतत् पापमष्टादशभेदं नान्वेषयेत्-न कुर्यात् स्वयं न चान्यं कारयेत् न कुर्वाणमन्यमनुमोदेत । एतदेवाह- 'तं परिण्णाय मेहावी'त्यादि 'तत्' पापमष्टादशप्रकारं परिः-समन्तात् ज्ञात्वा मेधावी-मर्यादावान् नैव स्वयं षड्जीवनिकायशस्त्रं स्वकायपरकायादिभेदं समारभेत् नैवान्यैः समारम्भयेत् न चान्यान् समारभमाणान् समनुजानीयात्, एवं यस्यैते सुपरीक्ष्यकारिणः षड्जीवनिकायशस्त्रसमारम्भाः तद्विषयाः पापकर्म्मविशेषाः परिज्ञाता ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च, स एव मुनिः प्रत्याख्यातपापकर्म्मत्वात्-प्रत्याख्याताशेषपापागमत्वात्, तदन्यैवं-विधपुरुषवदिति । इतिशब्दोऽध्ययनपरिसमाप्तिप्रदर्शनाय, ब्रवीमीति सुधर्मस्वाम्याह स्वमनीषिकाव्यावृत्तये, भगवतोऽपनीतघनघातिकर्म्मचतुष्टयस्य समा-सादिताशेषपदार्थाविर्भावकदिव्यज्ञानस्य प्रणताशेषगीर्वाणाधिपतेश्चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितस्य श्रीवर्द्धमानस्वामिन उपदेशात्सर्वमेतदाख्यातं यदतिक्रान्तं मयेति । उक्तः सूत्रानुगमः निक्षेपश्च ससूत्रस्पर्शनिर्युक्तिः । सम्प्रति नया नैगमादयः, ते चान्यत्र सुविचारिताः, सङ्क्षेपतस्तु सर्वेऽपि एते द्वेधा भवन्ति, ज्ञाननयाश्चरणनयाश्च, तत्र ज्ञाननया ज्ञानमेव प्रधानं मोक्षसाधनमित्यध्यवस्यन्ति, हिताहितप्राप्तिपरिहारकारित्वात् ज्ञानस्य, तत्पूर्वकसकलदुःखप्रहाणाच्च ज्ञानमेव न तु क्रिया, चरणनयास्तु चरणस्य प्राधान्यमभिदधति, अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात्सकलपदार्थानां, तथाहि-सत्यपि ज्ञाने सकलवस्तुग्राहिणि समुल्लसिते न चरणमन्तरेण भवधारणीयकर्मोच्छेदः, तदनुच्छेदाश्च मोक्षालाभः, तस्मान्न ज्ञानं प्रधानं, चरणे पुनः सति सर्वमूलात्तर-

गुणाख्ये घातिकर्मोच्छेदः, तदुच्छेदात् केवलावबोधप्राप्तिः, ततश्च यथाख्यातचारित्रवह्निज्वालाकलापप्रतापितसकलकर्म्मकन्दोच्छेदः, तदुच्छेदादव्याबाधसुखलक्षणमोक्षावाप्तिरिति, तस्माच्चरणं प्रधानमित्यध्यवस्यामः । अत्रोच्यते, उभयमप्येतन्मिथ्यादर्शनं, यत उक्तम्- 'हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया । पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ।।१।।' (हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हताऽज्ञानतः क्रिया । पश्यन् पङ्गुर्दग्धो धावंश्चान्धः ।।१।।) तदेवं सर्वेऽति नयाः परस्परनिरपेक्षा मिथ्यात्वरूपतया न सम्यग्भावमनुभवन्ति, समुदितास्तु यथावस्थितार्थप्रतिपादनेन सम्यक्त्वं भवन्ति, यत उक्तम्- 'एवं सव्वेवि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा । अण्णोण्णणिस्सिया पुर हवंति ते चेव सम्मत्तं ।।१।।' (एवं सर्वेऽपि नयाः मिथ्यादृष्टयः स्वपक्षपतिबद्धाः । अन्योऽन्यनिश्रिताः पुनर्भवन्ति त एव सम्यक्त्वम् ।।१।।) तस्मादुभयं परस्पर-सापेक्षं मोक्षप्राप्तये अलं, न प्रत्येकं ज्ञानं चरणं चेति, निर्दोषः खल्वेष पक्ष इति व्यवस्थितं ।। तया चोभयप्राधान्यदिदर्शयिषयाह-

सव्वेसिंपि णयाणं बहुविधवत्तव्वय णिसामेत्ता । तं सव्वणयविसुद्ध जं चरणगुणट्ठिओ साहू ।। चरणं च गुणश्च चरणगुणौ तयोः स्थितश्चरणगुणस्थितः, गुणशब्दोपादानात् ज्ञानमेव परि-गृह्यते, यतो न कदाचिदात्मनो गुणिनस्तेन ज्ञानाख्येन गुणेन वियोगोऽस्ति, ततोऽसौ सहभावी गुणः, अतो बहुविधवक्तव्यं नयमार्गमवधार्यापि सङ्क्षेपात् ज्ञानचरणयोरेव स्थातव्यमिति निश्चयो विदुषां, न चाभिलषितप्राप्तिः केवलेन चरणेन, ज्ञानहीनतत्वात्, अन्धगमिक्रियाप्रतिविशिष्टप्रदेशप्राप्तिवत्, न च ज्ञानमात्रेणाभीष्टप्राप्तिः, क्रियाहीनत्वात्, चक्षुर्ज्ञानसमन्वितपङ्गुपुरुषअर्धदग्धनगरमध्या-वस्थितयथावस्थितदर्शिज्ञानवत्, तस्मादुभयं प्रधानं, नगरदाहनिर्गमे पङ्ग्वन्धसंयोग-क्रियाज्ञानवत् ।। एवमिदमाचाराङ्गसन्दोहभूतं प्रथमाध्ययनं षड्जीवनिकायस्वरूपरक्षणोपा-

यगर्भमादिमध्यावसानेषु दयैकरसमेकान्तहितापत्तिकारि मुमुक्षुणा यदाऽधीतं भवति सुत्रत: णिक्षकेणार्थश्चावधृतं भवति श्रद्धानसंवेगाभ्यां च यथावदात्मीकृतं भवति ततोऽस्य महाव्रतारोपणमुपस्थापनं परीक्ष्य निशीथाद्यभिहितक्रमेण सचित्तपृथिवीमध्यगमनादिना श्रद्दधानस्य सर्वं यथाविधि कार्यम् । क: पुनरुपस्थापने विधिरिति ?, अत्रोच्यते, शोभनेषु तिथिकरणनक्षत्रमुहूर्त्तेषु च भगवतां प्रतिकृतिरभिवन्द्य प्रवर्द्धमानाभि: स्तुतिभि: अथ पादप-तितोत्थित: सूरि: सह शिक्षकेण महाव्रतारोषणप्रत्ययं कायोत्सर्गमुत्सार्यैकैकं महाव्रतमादित आरभ्य त्रिरुच्चारयेद् यावन्निशिभुक्ति विरतिरविकला त्रिरुच्चारिता, पश्चादिदं त्रिरुच्चरितव्यम्- 'इच्चेइयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उपसंपज्जिता णं विहरामि' (इत्येतानि पञ्च महाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि आत्महितार्थायो-पसंपद्य विहरामि) पश्चाद्वन्दनकं दत्त्वोत्थितोऽभिधत्ते अवनताङ्गयष्टि:-संदिशत किं भणामी'ति?, सूरि: प्रत्याह- 'वन्दित्वाऽभिधत्स्वे' त्येव-मुक्तोऽभिवन्द्योत्थितो भणति- 'युष्माभिर्मम महाव्रतान्यारोपितानि इच्छा-म्यनुशिष्टि'मिति, आचार्योऽपि प्रणिगदति- 'निस्तारकपारगो भवाचार्यगु-णैर्वर्द्धस्व' वचनविरतिसमनन्तरं च सुरभिवासचूर्णमुष्टिं शिष्यस्य शिरसि किरति, पश्चाद्वन्दनकं दत्त्वा प्रदक्षिणीकरोत्याचार्यं नमस्कारमावर्त्तयन्, पुनरपि वन्दते, तथैव च करोति सकलक्रियानुष्ठानम्, एवं त्रिप्रदक्षिणीकृत्य विरमति शिष्य:, शेषा: साधवश्चास्य मूर्ध्नि युगपद्वासमुष्टिं विमुञ्चन्ति सुरभिपरिमलां यतिजनसुलभकेसराणि वा, पश्चात्कारितकायोत्सर्ग: सूरिरभिदधातिगणस्तव कोटिक: स्थानीयं कुलं वैराख्या शाखा अमुकाभिधान आचार्य उपाध्यायश्च, साध्व्या: प्रवर्त्तिनी तृतीयोद्देष्टव्या, यथाऽऽसन्नं चोपस्थाप्यमाना रत्नाधिका भवन्ति, पश्चादाचाम्लं निर्विकृतिकं वा स्वगच्छसन्ततिसमायातमाचरन्तीति । एव-मेतदध्ययनमादि-

मध्यान्तकल्याणकलापयोगि भव्यजनतामन:समाधानाधायि प्रियविप्रयो-गादिदु:खावर्त्तबहूलकषायझषादिकुलाकुलविषमसंसृतिसरित्तारणसम-र्थममलदयैकरसमसकृदभ्यसितव्यं मुमुक्षुणेति ।।

आचार्यश्रीशीलाङ्कविरचिता शस्त्रपरिज्ञाध्ययनटीका समाप्तेति

(ग्रन्थाग्रं २२२१)

।। इति प्रथमाध्ययने सप्तमोद्देशक: ।।१-७।।

इति प्रथममध्ययनम् ।।१।।

वर्तमान गच्छाधिपति
कात्रज तीर्थ मार्गदर्शक
पू. आचार्यदेवश्री
दोलतसागरसूरीश्वरजी महाराजा

तत्लघुगुरुबंधु शासन प्रभावक
पू. आचार्यदेवश्री
देवचन्द्रसागरसूरीश्वरजी म. सा.

Print : Kamal, Pune M.: 9421994250